CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

ओ३म्

वैदिक देवगण

एक अध्ययन

डॉ० छविकृष्ण आर्य (शास्त्री)

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

BVB Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya
1395

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

ओ३म्

वैदिक देवगणः एक अध्ययन

श्री शंकराचार्य संस्कृत महाविद्यालय
के पुस्तकालय को भेंट -
12/10/23

BVB Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya
1395

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

ओ३म्

वैदिक देवगणः एक अध्ययन

डॉ० छविकृष्ण आर्य (शास्त्री)
पूर्व प्राचार्य
केन्द्रीय विद्यालय संगठन, नई दिल्ली
एवं वर्तमान प्राचार्य
श्रीशंकराचार्य संस्कृत महाविद्यालय
भारतीय विद्या भवन, दिल्ली केन्द्र

BVB Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya
1395

उपासना पब्लिकेशन्स
दिल्ली

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

प्रकाशक:
उपासना पब्लिकेशन्स
डी-1548, गली नं० 10, खजूरी खास,
दिल्ली-110090
email id: upasanapublications@gmail.com

वितरक:
गायत्री याज्ञिक परिवार ट्रस्ट
3/51, सैक्टर 7, रोहिणी
दिल्ली

Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya BVB
1395

प्रथम संस्करण: 2023

© लेखक

ISBN: 978-93-87677-06-7

मूल्य: 500.00

मुद्रक:
विशाल कौशिक प्रिंटर्स
दिल्ली

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

BVB Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya
1395

शुभाकांक्षा

मुझे यह जानकर अतीव हर्ष हुआ कि श्री शंकराचार्य संस्कृत महाविद्यालय, भारतीय विद्याभवन, दिल्ली के सुयोग्य प्राचार्य एवं मेरे प्रिय बन्धु डॉ. छवि कृष्ण आर्य ने **वैदिक देवगण-एक अध्ययन** विषय पर एक ग्रन्थ तैयार किया है। इसके लिए मैं उन्हें हार्दिक बधाई एवं साधुवाद देती हूँ तथा आशा करती हूँ कि भविष्य में भी इसी प्रकार अपनी लेखनी से अविरत वेद-प्रचार करते रहेंगे।

वेदाध्ययन हेतु प्रवृत मनीषी जनों के लिए सुविदित है कि वैदिक मन्त्रों के मर्म को अधिगत करने के लिए तीन तत्त्वों का ज्ञान महत्त्वपूर्ण है- ऋषि, देवता और छन्द। इनमें से द्वितीय तत्त्व देवता वैदिक चिन्तन का मुख्य प्रतिपाद्य है इसीलिए पाश्चात्य विद्वानों ने **वैदिक देवशास्त्र** (Vedic Mythology) में यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया कि वैदिक देवता भौतिक जगत् के और प्राकृतिक शक्तियों के अधिष्ठाता हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने **बहुदेववाद** (Polytheism), **एकदेववाद** (Monotheism) और **सर्वेश्वरवाद** (Pantheism) आदि की चर्चा करते हुए वैदिक चिन्तन के क्रमिक विकास की कहानी कल्पित कर डाली। किन्तु प्राचीन भारतीय परम्परा वैदिक देवता तत्त्व के विषय में इस विकासक्रम को नहीं मानती, अपितु यह स्वीकार करती है कि एक ही परमात्मा सर्वोच्च देवरूप है। अन्य सभी देवता उसके प्रतिरूप हैं - **रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।** ऋग्वेद (6/47/18)

तदनुसार वेद संहिताओं में एक ओर अग्नि, वायु, उषा, पर्जन्य, पृथिवी, सूर्य आदि प्राकृतिक तत्त्वों, इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि दैवी शक्तियों तथा रात्रि, काल एवं श्रद्धा, मन्यु आदि अमूर्त्त भावों को देवता मानकर

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

स्तुतियाँ की गई हैं तो दूसरी ओर विश्वनियन्ता, देवाधिदेव, सर्वोच्च सत्ता परमात्मा का गुणगान इन मन्त्रों का अन्तर्निहित भाव है। ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध मन्त्रांश - **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** द्वारा सिद्धान्त असन्दिग्ध रीति से मुखरित हुआ है कि वेदसंहिताओं में एक ही परम सत् का विविध रूपों में वर्णन किया गया है।

निरुक्तकार यास्क ने दैवत काण्ड में इसी तथ्य को स्पष्ट निर्देश किया है और कहा है कि उसी एक देवता की स्तुति अनेक रूपों में की जाती है-

महाभाग्याद् देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति।। (7/4/8-9)

ऋग्वेदीय ऐतरेय आरण्यक (7/4/12) तथा शौनकीय बृहददेवता (1/62/65) आदि ग्रन्थों में भी उपर्युक्त विचार का ही पोषण किया गया है।

उल्लेखनीय है कि **वैदिक देवता** तत्त्व की त्रिविध व्याख्या की जा सकती है - आधिभौतिक (स्थूल, प्रत्यक्ष रूप), आधिदैविक (गुढ़, परोक्ष रूप) तथा आध्यात्मिक (निगुढ़, अन्तर्निहित परमात्म तत्त्व)। ऋग्वेद के मन्त्र (1/20/10) में उत्, उत्तर एवं उत्तम पदों के प्रयोग द्वारा सूर्य के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन तीनों रूपों का स्पष्ट निर्देश किया गया है। इसी दृष्टि से ऐतरेय आरण्यक में अग्नि से आशय अग्नि के दो रूपों का उल्लेख किया गया है- **तिरोहित अग्नि और पुरोहित अग्नि।** तिरोहित अग्नि से आशय अग्नि के गूढ़ एवं सूक्ष्म रूप से है तो पुरोहित अग्नि का अभिप्राय साक्षात् अनुभव की जाने वाली पार्थिव अग्नि से है। **अग्निमीडे पुरोहितम्** कहकर ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में इसी प्रत्यक्ष, पार्थिव अग्नि का स्तवन किया गया है।

यद्यपि साधारणतः देवता शब्द से यही समझा जाता है कि **जिसकी स्तुति-उपासना की जाये, वही देवता है** तथापि वैदिक व्याख्या पद्धति में इसका एक अर्थ वर्ण्य-विषय भी कहा गया -

या तेनोच्यते सा देवता। (कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी)

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

डॉ. छविकृष्ण आर्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ **वैदिक देवगण-एक अध्ययन** में आठ अध्यायों के अन्तर्गत देवता तत्त्व का त्रिधा (पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय) एवं अष्टधा विभाजन, देवताओं की तैंतीस संस्था, प्रमुख देवतावाचक पदों का निर्वचनपरक भाषावैज्ञानिक और विचारपरक दार्शनिक अध्ययन, देवताओं के अंग, वाहन एवं शस्त्र आदि विषयों का सप्रमाण विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त, स्त्रीदेवता विषय पर पृथक्शः एक अध्याय में चर्चा की गई है।

इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण योगदान रहेगा। मेरा सुधी पाठकों एवं वेद के विद्यार्थियों सें यही आग्रह है कि आप स्वयं भी इस ग्रन्थ को पढ़ें तथा अन्यों को भी इसके पठन हेतु प्रेरित करें। ग्रन्थकार से मेरी अपेक्षा है कि यथाशीघ्र वैदिक ऋषि एवं वैदिक छन्द विषयों पर भी अपनी लेखनी चलायें तथा वेद के अध्ययन-अध्यापन में किये जा रहे अपने प्रयास को स्थायी रूप प्रदान करें।

अस्तु-

शुभकांक्षिणी

शशिप्रभा कुमार

शशिप्रभा कुमार
अभ्युदय
H.No. 295/15-A
नौएडा (उ.प्र.) 201301

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

प्राक्कथन

वैदिक देवगण-एक अध्ययन नामक इस ग्रन्थ की रचना की प्रेरणा मेरे मन में तब उत्पन्न हुई, जब मैं भारतीय विद्या भवन में वेदाध्ययन पाठ्यक्रम के छात्रों को वेद पढ़ाते समय वेद के मन्त्रों में देवताओं के महत्त्व को बता रहा था। इससे पहले प्रकाशित मेरी पुस्तक **ऋग्वेदीय निर्वचन** में मैंने स्थालीपुलाकन्याय से ऋग्वेद के कतिपय प्रमुख देववाचक शब्दों के निर्वचन व व्याख्या प्रस्तुत की, तभी मुझे अनुभव हुआ कि वेदमन्त्रों को समझने के लिए मन्त्र के देवता का सम्यग्ज्ञान बहुत आवश्यक है। जैसा कि आचार्य शौनक ने बृहद्देवता में वेद मन्त्रों को समझने के लिए देवता के ज्ञान का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है-

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
दैवेतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति।।[1]
न हि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम्।
लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणां फलमश्नुते।।[2]

अर्थात् वेद का अध्ययन करने वालों को प्रयत्नपूर्वक मन्त्र के देवता को जानना चाहिए क्योंकि मन्त्र के देवता का ज्ञान रखने वाला ही वेद मन्त्र के अर्थ को ठीक से समझ पाता है।

कोई भी व्यक्ति मन्त्र के देवताओं को सम्यग् ज्ञान के बिना लौकिक तथा वैदिक कर्मकाण्ड (यज्ञादि) का फल भी प्राप्त नहीं कर पाता।

---

1 वृह. 1/2
2 कृ. 1/4

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

वेद-मन्त्रों के निर्वचन करने वाले सभी ग्रन्थों में मन्त्र के देवतावाचक शब्दों के आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक भावों को ध्यान में रखकर निर्वचन किए गए हैं। इसी के आधार पर मन्त्रों के प्रत्यक्ष, परोक्ष तथा अतिपरोक्ष अर्थ किए गए हैं। वस्तुतः सामान्य जन के मन में देवता शब्द से पुराणों में वर्णित देवताओं के स्वरुप की छवि उभर कर आती है। जैसे इन्द्र का नाम सुनते ही एक ईर्ष्यालु, कामातुर व दुर्दान्त देवता की छवि मन में आती है, जब कि वेद में इन्द्र श्रेष्ठ धनों का दाता, तथा दुष्टों का संहारक, अन्नों का उत्पादक, परम-ऐश्वर्य का दाता, प्रकाशक, इन्द्रियों का अधिष्ठाता कहा गया है, जो क्रमशः परमेश्वर, सूर्य, राजा, सेनापति, जीवात्मा आदि का वाचक है। इसी प्रकार विष्णु, शिव, रुद्र, सरस्वती, लक्ष्मी आदि देवताओं के विषय में पौराणिक मान्यताएँ मानव मन पर छायीं हुई हैं। वेद के इन देवताओं का स्वरूप वेदमन्त्रों तथा उनके व्याख्या ग्रन्थों में जिस प्रकार व्याख्यात हैं, वही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है। इसी प्रकार वेद के देवताओं की संख्या निर्धारण तथा मन्त्रों में देवता का स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी देवता का निर्धारण केसे करें, तथा एक ही मन्त्र में अनेक देवों का उल्लेख होने पर उस मन्त्र का देवता केसे निर्धारित हो इत्यादि विषयों का विस्तृत विवेचन वैदिक साहित्य एवं वेदवेत्ता विद्वानों के चिन्तन के आधार पर इस ग्रन्थ में प्रतिपादित किया गया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन की प्रेरणा संस्कृत जगत् की ख्यातनामा विदुषी मेरे लिए बड़ी बहन से अधिक पूज्या, पूर्व कुलपति साँची विश्वविद्यालय भोपाल तथा वर्तमान में भारतीय विद्या भवन के श्री शंकराचार्य संस्कृत महाविद्यालय की डीन प्रो. डॉ. शशिप्रभा कुमार से प्राप्त हुई। इस पुस्तक के प्रकाशन हेतु आर्थिक भार का अधिकतम भाग आर्यसमाज विशाखा एन्क्लेव ने वहन किया है। मैं परमादरणीया बहन श्रीमती नीना कपूर का भी आभार प्रदर्शित करता हूँ, जो मेरे जीवन के प्रत्येक कार्य के अधूरे छूटने की सम्भावना को दूर कर पूर्ण करने में मुझे सदा आर्थिक सहायता प्रदान करती हैं। वैदिक धर्म के प्रचारक आचार्य श्री चन्द्रमणि मिश्र का तथा श्री रुपक शर्मा जी का इस पुस्तक के प्रकाशन में महत्वपूर्ण सहयोग व आशीर्वाद प्राप्त हुआ

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

है। हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशन में मेरा सहयोग करने वाली मेरी छोटी बहिन तुल्य तथा योग्यतम शिष्या श्रीमती सुनीता पाण्डेय का सहयोग भी इस पुस्तक के प्रकाशन में अविस्मरणीय है। इस पुस्तक के प्रकाशन में मेरे अनुज तुल्य श्री आचार्य जयपाल शास्त्री जी का मैं विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने लिखित सामग्री को टाइप कराने तथा टाइपिस्ट को मार्गदर्शन करने में मेरी पूरी सहायता की। मैं डॉ. रूप किशोर शास्त्री कुलपति गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय का विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने वेद जैसे अथाह समुद्र में प्रवेश की पुनीत प्रेरणा प्रदान की तथा यथासमय आवश्यक सामग्री उपलब्ध कराने में सदा सहायता की। इसी प्रकार प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री पूर्व उपकुलपति काङ्गड़ी विश्वविद्यालय तथा प्रो. डॉ. सुरेन्द्र कुमार विभागाध्यक्ष रोहतक विश्वविद्यालय एवं प्रो. डॉ. दिनेश चन्द्र शास्त्री एवं प्रो. डॉ. धर्मेन्द्र कुमार शास्त्री गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय का सहयोग भी यथा समय वैदिक विषयों पर प्राप्त होता रहा है। अतः मैं इन सभी महानुभावों का आभारी हूँ ।

स्व. डॉ. कृष्णलाल जी पूर्व विभागाध्यक्ष दिल्ली विश्वविद्यालय एवं स्व. प्रो. शिवनारायण शास्त्री का भी मैं आभार प्रदर्शित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, क्योंकि इनके ग्रन्थों से मुझे देवों के स्वरुप को समझने में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई।

'देव' शब्द की व्याख्या, व्युत्पत्ति व निर्वचन के बाद आचार्य यास्क के क्रम का अनुसरण करते हुए पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय तथा द्युस्थानीय देवों का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। स्त्री देवों को एक पृथक् अध्याय में व्याख्यात किया है। यद्यपि इस ग्रन्थ में स्थालीपुलाकन्याय से ही देवों का व्याख्यान किया गया है। क्योंकि वेद के समस्त देवताओं का विश्लेषण एक विशालकाय ग्रन्थ का रूप ले लेता, जो सामान्य जन के अध्ययन का विषय नहीं रह पाता। अतः संक्षेपतः ही मुख्य देवों का स्वरूप इसमें निरूपित किया गया है, ताकि अध्येता की रुचि बनी रहे।

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

विषयानुक्रमणिका

शुभाकांक्षा 3

प्राक्कथन 7

प्रथम अध्याय : देवता का महत्त्व और दैवी उद्भावना 15-22

- वैदिकमन्त्रज्ञान में देवता का महत्त्व
- दैवी उद्भावना और उसका विकास

द्वितीय अध्याय : देवताओं का दार्शनिक स्वरूप 23-44

- देव शब्द की व्युत्पत्ति एवं निर्वचन
- ब्राह्मणग्रन्थों में देव पद का निर्वचन व स्वरूप
- देव शब्द पर स्वामी दयानन्द का दृष्टिकोण
- देव, देवता और दैवत शब्दों का विवेचन
- मन्त्रों में देवता की पहचान
- वेद के भेद से देवता भेद

तृतीय अध्याय : देवताओं की संख्या निर्धारण 45-56

- देव सम्बन्धी पदों का भाषावैज्ञानिक एवं दार्शनिक अध्ययन
- नासदीयसूक्त (भाववृत्त सूक्त)
- हिरण्यगर्भसूक्त
- पुरुषसूक्त
- ज्ञानसूक्त

चतुर्थ अध्याय : देवों का त्रिधा विभाजन 57-75

- देवताओं की संख्या-निर्धारण व विभाजन
- आठ वसुओं का विवेचन
- ग्यारह रुद्रों का विवेचन
- बारह आदित्यों का विवेचन

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

देवों की संख्या के विषय में यास्कीय
चिन्तन तथा त्रिधा विभाजन
देवशास्त्रीय ग्रन्थों में देवों का अष्टधाविभाजन
देवताओं के अंग, शस्त्र और वाहन एक विश्लेषण
पञ्चम अध्याय : पृथिवीस्थानीय प्रमुख देवगण 76–116
अग्नि
जातवेद
वैश्वानर
पृथिवी
नदी
सोम
बृहस्पति
षष्ठ अध्याय : अन्तरिक्षस्थानीय देवगण 117–157
वायु
इन्द्र
रुद्र
वरुण
आपः
पर्जन्य
अपांनपात्
सप्तम अध्याय : द्यु-स्थानीय देव गण 158–192
सूर्य
सविता
आदित्य
उषा
अश्विनौ
विष्णु

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अष्टम अध्याय : स्त्री देवगण 193–220

स्त्री देवता
सरस्वती
लक्ष्मी
रात्रि/रात्री
श्रद्धा
इडा (इला)

उपसंहार 221–223
संदर्भ ग्रंथ सूची 224–227

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

प्रथम अध्याय
देवता का महत्त्व और दैवी उद्भावना

वैदिकमन्त्रज्ञान में देवता का महत्त्व

वैदिक मन्त्रों के ज्ञान में देवता कितना महत्त्वपूर्ण है? इस विषय में आचार्य शौनक प्रणीत बृहद्देवता नामक ग्रन्थ के आरम्भ में वे लिखते हैं कि–

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति।।[1]

अर्थात् सबको प्रत्येक मन्त्र के देवता के विषय में प्रयत्नपूर्वक ठीक-ठीक ज्ञान रखना चाहिए, क्योंकि जो मन्त्रों के देवता को जानते हैं, वे ही मन्त्रों के अर्थो को ठीक से समझते हैं।

आचार्य शौनक का यह भी कहना है कि जो व्यक्ति देवता के ज्ञान के विना लौकिक या वैदिक संस्कारों का आयोजन करता है, उसे उसका फल भी प्राप्त नहीं होता।

नहि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम्।
लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणा फलमश्नुते।।[2]

अर्थात् देवता के ठीक-ठीक ज्ञान के विना यदि विद्वान् लौकिक या वैदिक कर्मकाण्ड का आयोजन करता है, तो उसे उस कर्मकाण्ड (संस्कार) का फल भी प्राप्त नहीं होता।

1 वृहदेवता 1/2
2 वृहदेवता 1/4

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

दैवी उद्भावना और उसका विकास

दैवीभाव हमारी वैदिक-संस्कृति का मूलाधार है। मनुष्यों में देव भावना का उद्भव और विकास ही वैदिकसंस्कृति का मूल लक्ष्य है। हम आकार (शरीर) से क्रियाशील और मन से विचारशील होने के कारण ही मनुष्य कहलाते हैं, 'मननात् मनुष्यः' 'मत्वा कर्माणि सीव्यति'। हम प्रयत्न करने पर भी सम्पूर्ण जीवन में देव न बन पाएँ तो कम से कम अपनी सन्तान को देव बनाने का प्रयास अवश्य करें। ऐसा उद्बोघन ऋग्वेद में प्राप्त होता है -

मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् [1]

मनुष्यों के जीवन में उतार-चढ़ाव तो आते ही रहते हैं। कभी सफलता कभी असफलता, कभी आशा कभी निराशा, कभी हानि, कभी लाभ, कभी हर्ष, कभी विषाद, ये द्वन्द्व जीवन में चलते ही रहते हैं। इनसे ऊपर उठने के लिए ही मनुष्य दैवी शक्तियों का आवाहन करता है। उन दिव्य शक्तियों को अपने जीवन में धारण करने की प्रार्थना व प्रयास करता है। जब मनुष्य अपने सतत-प्रयत्न और अभ्यास से दैवी शाक्तियों को अपने अनुकूल बनाने में समर्थ होता है, तो वह गीताशास्त्र के अनुसार स्थितप्रज्ञ योगी की श्रेणी में आ जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।[2]

स्वभावतः प्रत्येक मनुष्य दुःखों में अनुद्विग्न तथा सुखों से विगतस्पृह नहीं देखा जाता। प्रायः सभी मनुष्य दुखों में दुःखी तथा सुख के साध नों के प्रति आकृष्ट दिखाई देते हैं। मनुष्य देवताओं से सुखों की वृद्धि तथा दुःखों के निदान की प्रार्थना करते हैं। वेदों में ऐसी प्रार्थनाएँ भरी पड़ी हैं, जिनमें अग्नि, इन्द्र, सूर्य, सविता, विष्णु, वरुण, सोम, सरस्वती, आदि देवताओं से प्रार्थनाएँ की गई हैं। उदाहरण के लिए सविता देव से प्रार्थना को देखिए-

1 ऋ. 10/53/06
2 गीता 2/56

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्न आसुव।।[1]

अर्थात् हे सविता देव! हमारे सभी दुरितों, दुर्गुणों तथा दुःखों आदि को दूर कीजिए तथा कल्याणकारी गुण, कर्म तथा स्वभाव को प्राप्त कराइए। अग्निदेव से की गई प्रार्थना देखिए–

अग्ने नय सुपथा राये[2]

अर्थात् हे अग्निदेव! हमें 'रयि' अर्थात् धनैश्वर्य की प्राप्ति के लिए सुपथ (अच्छे मार्ग) से ले चलो।

सोम को हृदय में बसा कर सौम्यता प्राप्ति के लिए प्रार्थना देखिए–

सोमो ररन्धि नो हृदि[3]

अर्थात् हे सोम शान्ति व शीतलता प्रदान करने वाले प्रभो! आप हमारे हृदय में आइए।

इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे।
शुद्धो वृत्राणि जिध्नसे शुद्धो वाजं सिषामसि।।[4]

अर्थात् हे पवित्र ऐश्वर्यशाली इन्द्र! आप दानशील पुरुषों के लिए रत्न प्रदान करते हो, आप अपने शुद्ध स्वरूप से शत्रुओं (वृत्रों) को नष्ट करते हो, शुद्ध हुए आप शुद्ध अन्नों व बलों को प्राप्त कराओ।

वरुण देव से प्रार्थना का एक उदाहरण–

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्यव्रते तवानागसो आदितये स्याम।।[5]

हे वरुण देव! आप हमारे तीनों प्रकार के बन्धनों (उत्तम, मध्यम तथा अधम) को ढीला कर दो। हम आदित्य के व्रतों (नियमों) पर चलते हुए पाप रहित हों।

1 यजु. 30/3
2 यजु. 40/16
3 ऋ. 1/91/13
4 ऋ. 8/95/9, साम – 1404
5 ऋ. 1/24/15, यजु. 12/12 अथर्व 7/83/3

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

इस प्रकार की अनेक प्रार्थनाएँ वेद में देवों से की गई हैं। वस्तुतः दैवी शाक्तियाँ मनुष्य के जीवन की न केवल सहायिका अपितु भौतिक और पारमार्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति की साक्षात् साधिका हैं।

वैदिक संस्कृति में देवताओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसका प्रमाण न केवल वैदिक मन्त्रों में उपलब्ध है, अपितु अधोलिखित श्लोक में वैदिक संस्कृति का निरूपण करते हुए दैवी सम्पदा का महत्व प्रतिपादित किया गया है।

या वेद-स्मृति-शास्त्राविन्मुनिवरैः जुष्टा सुखैकास्पदा।
दैवीसम्पदलङ्कृता भगवता श्रीशेन संरक्षिता।
या वर्णाश्रमधर्मसारहृदया कामार्थमोक्षप्रदा,
नित्याविश्वहितैषिणी विजयते सा वैदिकीसंस्कृतिः॥

अर्थात् जो वेद-स्मृति-शास्त्र को जानने वाले मुनि-वरों के अनुभवों से युक्त है तथा सुखों से परिपूर्ण है। जो अग्नि, सविता, मित्र, वरुण, रुद्र, इन्द्रादि देवों की शाक्ति से अलङ्कृत है, तथा ईश्वर द्वारा संरक्षित है। जो वर्णाश्रम धर्म से सुरक्षित तथा धर्म-अर्थ-काम तथा मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय की साधिका है, जो अनवरत विश्व के हित की कामना करती है, वह वैदिक संस्कृति विजयी होवे।

ये प्राकृतिक देवताओं अग्नि, वायु, जल आदि की अनन्त शाक्तियाँ यदि मनुष्य या प्राणिमात्र के अनुकूल न हों अथवा प्रतिकूल हो जाएँ, तो मनुष्य या प्राणिमात्र आधिदैविक दुःखो का ग्रास बन जाता है। प्राकृतिक पदार्थो की प्रतिकूलता ही अति वृष्टि, अनावृष्टि, अग्निदाह, भूकम्प तथा महामारी आदि का कारण बनती है। अतः हमारे मनीषी ऋषियों ने अनेक प्रकार के यज्ञों का विधान किया है। इन देवताओं की अनुकूलता के लिए देवताओं की अनेकविध स्तुतियों के मन्त्रों का उन विविध यज्ञों में विनियोग किया है। आहुति के रूप में अनेक प्रकार की औषधियों से निर्मितसामग्री एवं संस्कारित घृत (आज्य) का विधान किया है। इसे हम प्रकृति के सन्तुलन का विज्ञान या प्रकृति के प्रकोप के भय का निदान भी कह सकते हैं।

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

वैदिककालीन समस्त कर्मकाण्ड, देवताओं की स्तुति परक मन्त्रों पर आश्रित है। ऋग्वेद के आरम्भिक सभी सूक्त देवतापरक हैं-जैसे -अग्निसूक्त, इन्द्रसूक्त, विष्णुसूक्त, वरुणसूक्त, सवितासूक्त आदि, इनको हम धार्मिक सूक्तों की कोटि में रख सकते हैं। ऋग्वेद के मंत्रों को 'ऋचा' शब्द से व्यवहृत किया गया है। 'ऋचा' का अर्थ है- स्तुति। अग्नि, वरुण, रुद्र, इन्द्र, सविता, सरस्वती, पूषन् आदि देवताओं की स्तुति जहाँ एकत्र विद्यमान है, वह ऋग्वेद है -

"ऋच्यते स्तूयते यया सा ऋक्"

अर्थात् जिसके द्वारा देवता की स्तुति की जाती है, वह ऋक् (ऋचा) कहाती है। उणादिकोष में ऋक् की व्युत्पत्ति इस प्रकार प्राप्त होती है-

ऋचन्ति स्तुवन्ति यया सा ऋक्।[1]

अर्थात् जिसके द्वारा (लोग) स्तुति करते हैं, वह ऋक् या ऋचा कहाती है।

ऋक् शब्द ऋच् स्तुतौ धातु से 'क्विप्' प्रत्यय लगकर बनता है।

महर्षि शाकल ने प्रातिशाख्य में ऋचाओं (स्तुतिमन्त्रो) के समूह को ऋग्वेद कहा है-

ऋचां समूहः ऋग्वेदः तमभ्यस्य प्रयत्नतः।
पठितः शाकलेनादौ चतुर्भिस्तदनन्तरम्।।

यद्यपि चारों वेदों में स्तुतिपरक मन्त्र हैं परन्तु ऋग्वेद में विभिन्न देवों के सूक्तो में स्तुतियाँ बहुलता से उपलब्ध हैं। यजुर्वेद में प्रधानता यज्ञपरक मन्त्रों की है। अतः यज्ञ (यजन) भी देवपूजन ही है। यज्ञ में पाठ किए जाने वाले अथवा आहुति दिए जाने वाले मत्रों में भी देवताओं को ही अग्नि के माध्यम से आहुति समर्पित की जाती है। उदाहरण के लिए सूर्य को दी जाने वाली अथवा अग्नि को दी जाने वाली आहुतियों में हम सूर्य या अग्निदेव की स्तुति कर समर्पण करते हैं-

1 उ. को. 2/57

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य स्वाहा।
अग्निर्वर्चोज्योतिर्वचः स्वाहा सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा।
ज्योतिः सूर्यः सूर्य्यो ज्योतिः स्वाहा।[1]
सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्रेन्द्रवत्या जुषाणोऽग्निर्वेतु स्वाहा।
सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा।।[2]

'यज्ञ' शब्द यज् धातु से बना है, जिसका अर्थ, देवपूजा संगतिकरण और दान है। यज्ञ में पहला भाव देवपूजन ही है। महर्षि दयानन्द सरस्वती यज्ञ शब्द का विवेचन अपने यजुर्वेद भाष्य में करते हुए लिखते हैं। कि – धात्वर्थो यज्ञस्त्रिधा भवति –

1. विद्याज्ञानधर्मानुष्ठानं वृद्धानां देवानां विदुषाम् ऐहिकपारमार्थिकसुख-सम्पादनाय सत्करणम्।
2. सम्यक् समेलविरोधज्ञानसंगत्या शिल्पविद्याप्रत्यक्षीकरणं नित्यं विद्वत्समानुष्ठानम्।
3. विद्यासुखधर्मादिशुभगुणानां नित्यदानकरणम्।[3]
1. अर्थात् विद्याज्ञान व धर्मानुष्ठान तथा वृद्धों का, देवताओं अर्थात् विद्वानों का ऐहिक और पारमार्थिक अर्थात् इहलोक और परलोक में सुखप्राप्ति के लिए सत्कार करना देवपूजारूप यज्ञ है।
2. सम्यक् ज्ञानी विद्वानों की संगति से शिल्पविद्यादि प्रत्यक्षीकरण करना संगतिकरणरूप यज्ञ है।
3. विद्या, सुख तथा धर्मादि शुभगुणों का नित्य दान करना दानरूप यज्ञ है।

ब्राह्मणग्रन्थों और गृह्यसूत्रों में पञ्चमहायज्ञों का विधान है। इन पञ्चमहायज्ञों में एक यज्ञ देवयज्ञ है। यद्यपि पाचों यज्ञ ही देवयज्ञ हैं। देवयज्ञ में वैदिक देवता सूर्य, अग्नि, वरुण, सविता, इन्द्र, रुद्र आदि के लिए आहुतियों का विधान है। व्यापक दृष्टि से देव शब्द पर विचार करें। तो ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, वलिवैश्वदेवयज्ञ, और अतिथियज्ञ ये सब देवयज्ञ हैं। ब्रह्म (परमेश्वर) या वेद दोनों ही दिव्य शक्तियों का मूल हैं। देवताओं

1 यजु. 3/9
2 यजु. 3/10
3 यजु. भा. 1/2 स्वा. द.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

में सभी शाक्तियाँ परमेश्वर की ही हैं। क्योंकि परमेश्वर (ब्रह्म) सब देवों के देव हैं। एक ही ईश्वर (देव) को विद्वान् लोग अनेक नामों से पुकारते हैं। वेद में इसका प्रमाण देखिए–

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।[1]

अर्थात्– (विप्राः) ज्ञानीजन (एकं सत्) – एक ही सत् (ब्रह्म) को (बहुधा वदन्ति) अनेक प्रकार से कहते हैं, तथा उसी को (इन्द्रं, मित्रं, वरुण मग्निमाहुः) इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं। (अथो स दिव्यः सुपर्णः गरुत्मान्) – और वही दिव्य, सुपर्ण तथा गरुत्मान कहलाता है। (अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः) और उसी को अग्नि, यम तथा मातरिश्वा कहते हैं।

यजुर्वेद में भी उस पुरुष (ब्रह्म) देव को अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा शुक्र, ब्रह्म, आप (जल) तथा प्रजापति कहा गया है–

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः सः प्रजापतिः।।

कहने का अभिप्राय यह है कि वेद में अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्रादि देव वाचक शब्द प्रकृति के जड़ देवताओं के वाचक भी हैं, तथा चेतन ब्रह्म के भी वाचक हैं।

वैदिकसाहित्य जिसमें ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि की गणना होती है, उसमें माता, पिता, आचार्य, विद्वान्गण, तथा ऋषियों एवं अतिथि की गणना भी चेतन देवों के रूप में होती है। अतः अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ तथा वलिवैश्वदेवादि यज्ञ भी परोक्षन्याय से देवयज्ञ ही हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली अध्याय में–

मातृदेवो भव।

पितृदेवो भव।

आचार्यदेवो भव।

अतिथिदेवो भव।[2]

---

1 ऋ. 01/164/46

2 तै. उ. शि. व.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

उक्त पंक्तियों में आचार्य अपने शिष्यों को शिक्षा देता है-माता, पिता, आचार्य तथा अतिथि को 'देव' मान कर उनके प्रति निष्ठा रखने को कहता है।

अतः हम वेद के देवता-वाचक शब्दों से जड़ और चेतन दोनों प्रकार के भावों का आग्रहण करते हैं। जड़ देवताओं में ऋग्वेद में प्रतिपादित अग्नि, वरुण, रुद्र, इन्द्र, सोम, सूर्य, सविता, विष्णु, मरुत युगल-देवता जैसे इन्द्राग्नी, द्यावापृथिवी, अश्विनौ, मित्रावरुणौ, अग्निषोमौ, इन्द्राविष्णु आदि।

स्त्रीवाची देव जैसे - उषस् (उषः), वाक्, सरस्वती, रात्रि आदि का आग्रहण किया गया है। वेद में इन्हीं सबको परमात्मा का वाचक होने पर चेतन स्वरूप माना गया है।

वेद व्याख्याग्रन्थों- उपनिषत्, ब्राह्मणादि में चेतन देवताओं में माता, पिता, आचार्यो व विद्वान्-गणों को स्थान दिया है। सभी जड़ व चेतन देव महनीय हैं, स्तुत्य हैं, प्राणिमात्र के जीवन के आधार हैं। अत एव वैदिक संस्कृति, देवसंस्कृति कहलाती है।

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

द्वितीय अध्याय

देवताओं का दार्शनिक स्वरूप

देव शब्द की व्युत्पत्ति एवं निर्वचन

महर्षि पाणिनि और 'देव' शब्द –

महर्षि पाणिनि ने 'देव' शब्द की व्युत्पत्ति "दिवु–क्रीडा–विजिगीषा–व्यवहार–द्युति–स्तुति–मोद–मद–स्वप्न–कान्तिगतिषु" इन दस अर्थो वाली दिवादिगणीय धातु से अच् प्रत्यय लगाकर की है। इस धातु के अनुसार 'देव' शब्द का क्रीडा अर्थात् खिलाड़ी अर्थ हुआ।

क्रीडा – (खेल) देव वो है जो खिलाड़ी है– "यः दीव्यति क्रीडति क्रीडयति वा अस्मिन् जगति इदं जगत् वा इति देवः।" अर्थात् वही देवों का देव महोदव इस संसार को खेल खिला रहा है। वही सबसे बड़ा खिलाड़ी है। ये संसार के जड़ देवता भी संसार के खेल के खिलाड़ी हैं। जैसे सूर्य दिन और रात तथा वृष्टि –चक्र का हेतु होने से उत्तम खिलाड़ी या देव है।

विजिगीषा – (जीतने की इच्छा) सभी देव, दिव्य शक्ति के भण्डार होने से विजिगीषु होते हैं। आध्यात्मिक पक्ष में जो सबको जीतने वाला, स्वयं अजेय अर्थात् जिसको कोई न जीत सके वह देव है (परमेश्वर है) पुण्यात्मा पुरुषों को जिताने की इच्छावाला भी इसका भाव हो सकता है।

व्यवहार – सब प्रकार के व्यवहार की पूर्ति हेतु साधनों का दाता होने से प्रभु देव हैं। सूर्य, वायु, पृथिवी आदि देवताओं के विना प्रकाश, प्राण व अन्न के विना प्राणियों का कोई व्यवहार सम्भव न होने से देव

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

व्यवहार का कारण हैं।

द्युति – जो चराचर जगत का द्योतक (प्रकाशक) है, वह देव है। परमात्मा सब जगत् के प्रकाश करने हारे सूर्यादि का प्रकाशक होने से देवों के भी देव हैं। इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है–

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति[1]

स्तुति – जो सबकी स्तुति का पात्र अर्थात् सब जिसकी प्रशंसा करे, वह स्तुतिरूप देव है यः स्तूयते सः स्तुतिरूपदेवः।

मोद – जो सबके मोद अर्थात् आनन्द का हेतु है। जिसमें दुःख का सर्वथा अभाव है, वह परमेश्वर मोदरूप देव है। संसार में सभी प्राणियों के सुख व मोद के हेतु प्रकृतिदेवस्वरूप पदार्थ ही तो हैं। जैसे वायु देव से प्राण का मोद (सुख), पृथिवी से अन्नरूप देव से बुमुक्षा के शमन का मोद (सुख), प्राप्त होता है।

मद – जो सदा मदमस्त (प्रसन्न) तथा दुःखों से दूसरों को दूर रखने वाला है, वह परमेश्वर मदरूप है।

स्वप्न – जो प्रलयकाल में सब व्यक्त जग्त को अव्यक्त कारण में सुलाता या लीन करता है, वह स्वप्नरूप देव है तथा जो प्रकृति के देव, रात्रि का हेतु होने से सबके शयन का हेतु होने से स्वप्नरूप देव हैं।

कान्ति – जिसकी कामना सब प्राणिरूपजगत् करता है, वह परमेश्वर कान्तिरूप देव है। प्रकृति के ये सभी देव चराचर जगत् की कामना का हेतु होने से कान्तिरूप देव हैं।

गति – 'गति' शब्द के तीन अर्थ हैं– ज्ञान, गमन, और प्राप्ति। जो सबके जानने के योग्य, अथवा सबके ज्ञान का विषय, जो सबमें (सर्वत्र) गति करने से सर्वव्यापक तथा जो सबको सर्वत्र उपलब्ध होने से गतिरूप देव है।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश में देव शब्द में दिवु धातु के इन सभी दश अर्थो की सम्यग् विवेचना की है। उनके संस्कृत अंश नीचे उद्धृत हैं। हिन्दी के भाव पूर्वोक्त विश्लेषण में व्याख्यात हो चुके हैं।

1 कठो 5/15

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

दिव धातु से 'देव' शब्द सिद्ध होता है।

1. क्रीडा – यो दीव्यति क्रीडति स देवः।
2. विजिगीषा – यो विजिगीषते स देवः।
3. व्यवहारः – यो व्यवहारयति स देवः।
4. द्युतिः – यश्चराचरं जगत् द्योतयति स देवः।
5. स्तुति – यः स्तूयते स देवः।
6. मोद – यो मोदयति स देवः।
7. मद – यो माद्यति स देवः।
8. स्वप्नः – यः स्वापयति स देवः।
9. क्रान्ति – यः कामयते काम्यते वा स देवः।
10. गति – यो गच्छति गम्यते वा स देवः।[1]

महर्षि यास्क और देव शब्द

महर्षि यास्क का दृष्टिकोण देव शब्द का निर्वचन करते समय अर्थानुगमिता प्रधान होता है।

आचार्य यास्क ने निरुक्त के दैवतकाण्ड में सभी देवताओं को तीन भागों में बाँटकर उनका यथास्थान निर्वचन किया है। निरुक्तकार देव शब्द का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि –

"देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा"[2]

देवो दानाद् वा –

"दान से देव है" इसका अभिप्राय है कि जो देने में समर्थ है अर्थात् जो स्वभावतः दानशील है, वह देव है यह आचार्य यास्क का ऐसा निर्वचन है, जो सभी देवों में घटता है, चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन। सभी जड़ देवता जैसे– वायु, सूर्य, पृथिवी, जल, वृक्ष, नदियाँ आदि प्राणवायु, प्रकाश, फल, फूलादि प्रदान कर अपना देवत्व सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार चेतन देवता, माता, पिता, आचार्य तथा विद्वद्गण अपनी सन्तति व शिष्यों को भोजन, वस्त्र व ज्ञानादि देकर अपना देवत्व

1 सत्यार्थप्रकाश प्र. समु.
2 नि. 7/5

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

स्थापित करते हैं। इसी प्रकार परमदेव परमेश्वर परमोपकार की भावना से सभी प्राणियों (जीवों) को सब जीवनोपयोगी पदार्थ प्रदान कर अपने परमदेवत्व या देवाधिदेवत्व को स्थापित करते हैं।

दीपनाद्वा

देव दीपन से है। इसका अभिप्राय है कि जो दीपन का काम करता है, वह देव है। दीपन का अभिप्राय जो दीपक की भाँति सब पदार्थों को प्रकाशित करता है।

द्योतनाद्वा

देव द्योतन से है। द्योतन दीपन का उत्कृष्ट भाव है, क्योंकि दीपन शब्द दीपी दीप्तौ धातु से तथा द्योतन शब्द द्युत दीप्तौ से बना है। प्रश्न यह खड़ा होता है कि जब दोनों धातुओं का अर्थ एक ही है, तो निरुक्तकार ने 'देव' की दीपन और द्योतन यह दो पृथक् शाक्तियाँ क्यों मानी हैं? वस्तुतः मूलतः दीपन और द्योतन प्रकाशित करने का वाचक होने तथा द्योतन प्रकाशित होने तथा करने का वाचक होने से द्युलोक स्थिति सूर्यादि देवों के गुणों का संकेत करता है। सूर्य स्वयं प्रकाशित होने के साथ-साथ सब जगत् को तथा चन्द्रादि को भी द्योतित अर्थात् प्रकाशित करता है।

द्युस्थानो भवतीति वा–

देव द्युस्थानीय होता है। वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, पूषन्, आदित्य, उषस् आदि देव द्युस्थानीय माने गये हैं। प्रकृति के जड़ देवों में ये (उक्त) देव द्युस्थानीय माने गए हैं। यदि चेतन देवों के विषय में विचार करें तो माता, पिता, आचार्य एवं विद्वान् जन जिनके देव हैं, उनसे इनका स्थान ऊँचा है। पुत्र, पुत्री, शिष्य व प्रजाजन से माता, पिता, आचार्य व विद्वानों का स्थान ऊँचा अर्थात् द्युस्थानतुल्य होता है। परमपिता परमेश्वर जो देवाधिदेव हैं, उनका स्थान तो सर्वोपरि स्वतः सिद्ध है।

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

ब्राह्मणग्रन्थों में देव पद का निर्वचन व स्वरूप

ब्राह्मणग्रन्थों में देवताओं के स्वरूप, उनके गुणों तथा विभाजन और निरुक्तियों पर विस्तृत विवेचन हुआ है। ऋग्वेद से सम्बन्धित ऐतरेय ब्राह्मण में देवताओं की मुख्य चार विशेषताएँ बताई गई हैं, जो उनके स्वरूप का निर्धारण करती हैं तथा मनुष्यों से उनको पृथक करती हैं।

देवता सत्यवादी होते हैं।

देवता परोक्षाप्रिय होते हैं।

देवता एक दूसरे के घर में नहीं रहते।

देवता मर्त्यो को अमरत्व प्रदान करते हैं।

1. सत्यसंहिता वै देवाः[1] – अनृतसंहिता मनुष्या इति।

अर्थात् देवता सत्यवादी होते हैं। जो सदा सत्य नहीं बोल पाते वे मनुष्या होते हैं।

2. परोक्षप्रिया इव हि देवाः[2]–

अर्थात् देवता परोक्षप्रिय होते हैं। ऐतरेयब्राह्मण में इसका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है, मनुष्य का 'मानुष' रूप 'मादुष' का परोक्ष रूप है। मनुष्य जब देवताओं की भाँति दोष रहित बनता है, तब वह मादुष होता है। यह मादुषता परोक्ष से देवों द्वारा प्रदत्त है, क्योंकि वे परोक्षप्रिय हैं। देवों की यह प्रवृत्ति लोक में भी देखने को मिलती है जैसे– माता–पिता (देव) बालक के प्रत्यक्ष नाम 'यज्ञदत्त' में रुचि नहीं रखते, अपितु वे शास्त्री, उपाध्याय आदि उपनामों में रुचि रखते हैं।[3]

3. न वै देवाः अन्योऽन्यस्य गृहे वसन्ति, नर्तुऋतोर्गृहे वसतीति[4]

अर्थात् देवता एक दूसरे के घर में नहीं रहते। जैसे एक ऋतु दूसरी ऋतु के घर अर्थात् समय में नही होती। उदाहरण के लिए वसन्तऋतु, शीतऋतु में नहीं होती, शीतऋतु, ग्रीष्मऋतु में नहीं होती। सब ऋतुएँ

---

1 ऐ. ब्रा. 7/16

2 ऐ. ब्रा. 3/3/9

3 मादुषं ह वै नामैतद् यन्मानुषं तन्मादुषं सन् मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण। ऐ. ब्रा. 3/3/9

4 ऐ. ब्रा. 5/2/4

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अपने-अपने काल में होती हैं। इसी प्रकार सारे देवता अपने अपने घर में रहते है, दूसरे के घर में नहीं रहते। दूसरा भाव यह है कि जो अपनी मर्यादा में रहे, वह देव। जो मर्यादा भंग करे वह 'राक्षस' है। तीसरा भाव यह भी हो सकता है कि जो कुछ भी शक्ति ईश्वर प्रदत्त है, उसमें सन्तुष्ट रहे दूसरे की शक्ति को समेटने की इच्छा न करे, वह देव है।

4. प्रजापतिर्वै पितृऋभून् मर्यान् सतोऽमर्यान् कृत्वा तृतीय सवन आजत[1]

अर्थात् देवता मर्त्यों को अमरत्व प्रदान करते हैं। प्राचीन काल में पिता होकर प्रजापति ने मर्त्य (मरणशील) को भी अमर्त्य (अमर) देव बनाकर तृतीय सवन में भागीदार बनाया। अभिप्राय यह कि जो देवों के दानादि गुणों को धारण करते हैं, वे मरणधर्मा मनुष्य भी यशोधन पाकर अमर हो जाते हैं।

तैत्तिरीयब्राह्मण में जगत्सृष्टिवर्णन प्रकरण में देव शब्द की निरुक्ति प्राप्त होती है-

दिवा वै नोऽभूदिति त देवानां देवत्वम्।[2]

जब प्रजापति ने दिन की सृष्टि की तब देवताओं ने कहा हमारे लिए ही दिन हो गया, यही देवों का देवत्व है। यह दिन होना, प्रकाश होना, चमकना यही तो देवों का देवत्व है। देव देदीप्यमान हैं, दिन की भाँति देवता सबमें जागृति पैदा करते व क्रियाशीलता उत्पन्न करते हैं, यही देवों का दिवात्व है, देवत्व है। तैत्तिरीयब्राह्मण में एक और निरुक्ति उपलब्ध होती है-

दिवा देवत्राऽभवत्। तदनु देवानसृजत। तद्देवानां देवत्वम्[3]

(मनुष्यों की रचना हेतु प्रजापति के लिए) दिन प्रकाशमान हो गया, तब (प्रजापति ने) देवों की उत्पत्ति की, यही देवों का देवत्व है। अभिप्राय यह है, कि जो द्योतित होना है या दीप्तिमान् होना है, वही देवत्व है। यहाँ भी दीप् दीप्तौ या द्युत् दीप्तौ धात्वर्थ ही अभिप्रेत हैं।

---

1 ऐ. ब्रा. 6/3/4
2 तै. ब्रा. 2/2/9/9
3 तै. ब्रा. 2/3/83

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के ग्यारहवें सूक्त में देव शब्द का निर्व. चन दिव धातु से प्राप्त होता है–

इमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहि यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।।[1]

अर्थात् इस यज्ञ को द्योतन स्वरूप देवों में धारण करो, एवं तुम लोग सुख साधनों से सदा हमारी रक्षा करो। इस मंत्र में 'दिवि' विशेषण से देवेषु का निर्वचन किया गया है।

देव शब्द पर स्वामी दयानन्द का दृष्टिकोण

स्वामी जी का दृष्टिकोण स्पष्ट है कि वे वेदों में वर्णित देवताओं को आध्यात्मिक दृष्टि से ईश्वर का वाचक तथा भौतिक दृष्टि से संसार के पदार्थों के वाचक मानते हैं[2] वेद–वर्णित अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा, सूर्य, सविता आदि देव एक ही परमेश्वर की भिन्न–भिन्न शक्तियों व गुणों के वाचक हैं। साथ ही उन्होंने श्लेषालङ्कार मानते हुए इन्हीं देव वाचक शब्दों के भौतिक अग्नि, सूर्य, आत्मा, प्राण, राजा, सेनापति, उपदेशक, अध्यापक आदि अर्थ स्वीकार किए हैं। स्वामी जी ने देव शब्द की अलग–अलग व्युत्पत्ति व निरुक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। कतिपय उद्धरण यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ–

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्
होतारं रत्नधातमम्।।[3]

उक्त मन्त्र में देव शब्द की दिव धातु से भिन्न अर्थ परक निरुक्ति प्रस्तुत की है–

दातारं हर्षकरं विजेतारं द्योतकं वा [4]
अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरागमत्।।[5]

---

1 ऋ. 7/11/5

2 इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

3 ऋ. 1/1/1

4 ऋग्वेद भाष्य स्वा. दया. ऋ. 1/164/45

5 ऋ. 1/1/05

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

देवेभिः– विद्वद्भिः दिव्यगुणैः सह।
देवः– स्वप्रकाशः प्रकाशकरो वा।[1]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यहाँ 'देवेभिः' का अर्थ दिव्य गुणों से युक्त विद्वान् किया है। स्वामी जी को यहाँ देव शब्द में शतपथब्राह्मण की निरुक्ति का भाव अभिप्रेत है–

विद्वांसो हि देवाः [2]

स्वामी जी ने देव शब्द की दूसरी निरुक्ति में दिव् धातु तथा द्युत दीप्तौ धातु का अर्थ ग्रहण किया है। सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में स्वामी जी ने देव पद की व्याख्या में शतपथब्राह्मण का उपर्युक्त वचन ही उद्धृत किया है।[3]

यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में आए देव शब्द की व्याख्या करते हुए स्वामी जी लिखते हैं–

देवः– सर्वेषां सुखानां दाता सर्वविद्याद्योतकः।[4]

स्वामी जी ने सभी निरुक्तियों में महर्षि पाणिनि के धात्वर्थ तथा आचार्य यास्क के निर्वचनों को आधार माना है। स्वामी जी की देव शब्द की दो अन्य व्युत्पत्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

दिव्यसुखगुणानां दातः।[5]
यो दीव्यति क्रीडति स देवः।[6]

उक्त दोनों निरुक्तियों में, दा दाने तथा दिव क्रीडादि का अर्थ अभिप्रेत है। साररूप में कहा जा सकता है कि सभी आचार्यों की व्युत्पत्तियों, निरुक्तियों एवं निर्वचनों में देव का भाव दानार्थक दा धातु से द्योतनार्थक एवं दीपनार्थक दिव एवं द्युत् धातुओं के अर्थ वाले ही हैं।

---

1 ऋ. भा. स्वा. द. पृ. 452
2 श. प. ब्रा.
3 स. प्र., च. समु. पृ. 86
4 यजु. भा., स्वा. द. 1/1
5 यजु. भा., स्वा. द., 2/12
6 स. प्र., प्र. समु.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

देव, देवता और दैवत शब्दों का विवेचन

वैदिक साहित्य में देव, देवता और दैवत शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। 'देव' शब्द की निरुक्तिपरक चर्चा पिछले प्रकरण में की जा चुकी है, पुनश्च इसका व्युत्पत्तिपरक विवेचन इस प्रकार है- देव शब्द दिवु क्रीडा .... आदि अर्थ वाली धातु से ''नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः''।[1] सूत्र से अच् प्रत्यय लग कर द्युति, दीपनादि अर्थ में 'देव' शब्द सिद्ध होता है, जो अग्नि, इन्द्र, रुद्र, सविता आदि के अर्थ का बोधक है। पचादि गण में 'देव' शब्द की गणना होने के कारण यहाँ "नन्दि-ग्रहि पचि......." सूत्र से 'अच्' प्रत्यय हुआ,[2] तथा इक् उपधा में होने के कारण दिव् के 'इ' को 'ए' गुण होकर 'देव' शब्द बना। यह 'देव' शब्द वैदिक साहित्य में द्योतन, दीपन आदि के साथ 'दान' अर्थ का भी वाचक है।[3]

'देवता' शब्द भी वैदिक साहित्य में देव शब्द के अर्थों का वाचक है, क्योंकि मूलतः तो यह देवता शब्द भी दिवु धातु से ही बना है। 'देव' शब्द में "तस्यभावस्त्वतलौ"[4] सूत्र से भाव अर्थ में तल् प्रत्यय लगकर 'अजाद्यतष्टाप्'[5] सूत्र से टाप् प्रत्यय से स्त्रीलिङ्ग वाचक 'देवता' शब्द सिद्ध होता है। यह 'देवता' शब्द 'जनता' आदि तल् प्रत्ययान्त शब्दों की भाँति नहीं है, क्योंकि 'जनता' शब्द "ग्राम जनबन्धुसहायेभ्यस्तल्"[6] सूत्र से समूह अर्थ में तल् प्रत्यय लगकर बनता है। 'जनता' शब्द में 'तल्' प्रत्यय समूह अर्थ में है, अतः इसकी निरुक्ति है- 'जनानां समूहः जनता''। 'देवता' शब्द में भाव अर्थ में तल् प्रत्यय का अभिप्राय प्रकृति से होने वाले ज्ञान में जो विशेषणीभूत पदार्थ होता है, उसे भाव कहते हैं। जिससे प्रत्यय किया जाता है, उसे प्रकृत कहते हैं।[7] अर्थात् देवता शब्द

---

1 अष्टा. 3/1/134

2 देवः, देवी- पचादिषु देवडिति पाठात् इगुपधलक्षणं कं बाधित्वाऽचि टित्वात् ङीप्। मा.धा.वृ.पृ. 400, भारती प्रकाशन (1364)

3 देवो दानाद्वा ....। नि. 7/5

4 ''देव एव देवता/मा.धा.वृ.पृ. 400, भारती प्रकाशन (1964)

5 अष्टा. 4/1/4

6 अष्टा. 4/1/43

7 ल.सि.कौ. भैमी व्याख्या / पृ. 968,

Funding by IKS-MoE

Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya BAB 1395

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

में तल् प्रत्यय 'देवत्व' विशेषता के ज्ञानभाव का वाचक है। अभिप्राय यह है कि 'देवता' शब्द में तल् प्रत्यय 'देवत्व' भाव का बोधक है।

सायणाचार्य ने माधवीया धातुवृत्ति में देवता शब्द में तल् प्रत्यय स्वार्थ में कहा है।[1] स्वार्थ में तल् प्रत्यय होने पर भी देव शब्द के अर्थ में देवत्व को प्रकट करने के लिए ही तल् प्रत्यय का प्रयोग है। वैय्याकरणों ने भी देव और देवता शब्द एक ही अर्थ के वाचक माने हैं। वेद में 'देव' और 'देवता' दोनों पदों का प्रयोग, सविता, अग्नि, इन्द्रादि देवों के लिए प्राप्त होता है–

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव।।[2]

इस मन्त्र में 'सविता देव' से दुरितों (दुर्गुणों, दुखों) को दूर करने तथा भद्र अर्थात् कल्याणकारी गुण, कर्म तथा स्वभाव को प्राप्त करने की प्रार्थना की गई है। अग्नि, रुद्रादि देवताओं से ऐसी प्रार्थनाएं वेद में भरी पड़ी हैं। कतिपय उदाहरण प्रसंगवश प्रस्तुत हैं–

अग्नि देव से प्रार्थना–

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।।[3]

अर्थात् स्वप्रकाशज्ञानस्वरूप सव जगत् के प्रकाशक अग्निस्वरूप प्रभो! आप हमें धनैश्वर्य की प्राप्ति के लिए अच्छे धर्मयुक्त मार्ग से ले चलो।

सविता देव से प्रार्थना–

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु।।[4]

अर्थात् हे सविता देव! मेरे इस यज्ञ कर्म को अर्थात् बड़ों के प्रति आदर के भाव को तथा सबके साथ मिलकर चलने के भाव को तथा

1 देव एव देवता– देवात्तल् इति स्वार्थे तल्। स्वभावात् स्त्रीत्वम्। मा.धा.वृ.पृ. 400 (का.भा.पृ. 1964)
2 यजु. 30/3
3 यजु. 40/16
4 यजु. 30/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

त्यागवृत्ति के भाव को बढ़ाओ। आप यज्ञ के पालक व रक्षक यजमान के ऐश्वर्य को बढ़ाओ।

· रुद्रदेव से प्रार्थना–

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।।

हे यशरूपी सुगन्धि और पुष्टि को देने वाले रुद्ररूप प्रभो! हम आपका यजन अर्थात् पूजन करते हैं। आप हमें खरबूजे की भाँति संसार के बन्धन से छुड़ा कर मोक्षरूप सुख को प्राप्त कराओ।

'देव' शब्द की भाँति 'देवता' शब्द भी यजुर्वेद के देव गणनात्मक मन्त्र में 'देवों' के लिए आया है। यहाँ अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत, बृहस्पति, इन्द्र और वरुण देवों को देवता शब्द से पुकारा गया है। उदाहरण–

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता
रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता
बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता।।[1]

'देव' और 'देवता' की भाँति 'दैवत' शब्द भी देव का वाचक है। क्योंकि मूलतः 'दैवत' शब्द में भी दिवु धातु का ही प्रयोग है। देवता ही दैवत है।[2] दैवत शब्द पुल्लिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होता है। दैवतः रूप भी बनता है और दैवतम् रूप भी बनता है। 'देवत' शब्द में 'प्रज्ञाऽऽदिभ्यश्च'[3] सूत्र से अण् प्रत्यय लगकर आदिवृद्धि होकर 'दैवतः' पुल्लिङ्ग शब्द बनता है। वैदिक साहित्य के व्याख्या ग्रन्थों में यथा वृहद्देवता आदि में देवता के लिए दैवतम् नपुंसक लिङ्ग रूप प्रयुक्त हुआ है। सायणाचार्य जी ने माधवीयाधातुवृत्ति में पुं. तथा नपुं. दोनों ही रूपों को स्वीकृत किया है।[4] निरुक्तकार ने 'दैवत' शब्द के नपुंसकलिङ्ग रूप का प्रयोग किया है तथा दैवत शब्द की निरुक्ति भी की है। यथा–

1 यजु., 14/20
2 देवतैव दैवतम्। मा.धा.वृ./पृ. 400 प्रा.भा.पृ. वाराणसी 1964
3 अष्टा. 5/4/38
4 स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते इति पुंस्त्वम्।। मा.धा.वृ.,पृ. 400

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमाचक्षते। देवता-दैवतमिति।[1]

अर्थात् जो नाम प्रधानतया देवताओं की स्तुतियों के लिए प्रयोग किए जाते हैं, उन्हें ही दैवत कहा जाता है। अतः देवता ही 'दैवत' है।

आचार्य शौनक रचित वृहद्देवता जो कि ऋग्वेदीय साहित्य के देवता शास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ है, में 'दैवत' शब्द देवता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण-

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति।।[2]

अर्थात् (वेदाध्ययन करने वालों को) प्रत्येक मन्त्र के देवता का ठीक-ठाक ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि देवता का ज्ञान रखने वाला ही वेद के मन्त्रों का अर्थ समझ पाता है।

न हि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम्।
लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणां फलमश्नुते।।[3]

मन्त्रों से सम्बन्धित देवताओं के यथार्थ ज्ञान के विना लौकिक अथवा वैदिक कर्मकाण्डों (संस्कारों) का फल भी प्राप्त नहीं होता।

बृहद्देवता में 'देव' के लिए 'दैवत' के साथ 'देवता' शब्द का प्रयोग भी हुआ है।

प्रत्यक्षं देवता नाम यस्मिन्मन्त्रेऽभिधीयते।
तामेव देवतां विद्यान्मन्त्रे लक्षणसम्पदा।।[4]

यदि जिस मन्त्र में प्रत्यक्षत्वेन किसी देवता का नामोल्लेख मिलता है, तो उसी को उस मन्त्र का देवता समझना चाहिए क्योंकि वहां देवता का यही लक्षण होता है। सामान्यतः 'दैवत' शब्द का प्रयोग देवतासम्बन्धी अर्थ में किया जाता है। कभी-कभी यहाँ 'दैवत' शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। जैसे निरुक्त का 'दैवत' प्रकरण जिसमें मन्त्रों के देवताओं का परिचय होता है।[5]

---

1 निरु. 7/1
2 वृहद्देवता 1/2 पृ.3, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी (तृतीय संस्करण- 2003)
3 बृहद्दे. 1/4
4 बृहद्दे. 1/11
5 हिन्दी शब्दसागर / पञ्चमभाग / प्रकाशन [illegible] भारत सरकार, प्रकाशित 1968

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

मन्त्रों में देवता की पहचान

मन्त्र में देवता की पहचान होना बहुत आवश्यक है, क्योंकि मन्त्र का देवता ही तो मन्त्र का विषय होता है। देवता के ज्ञान के बिना मन्त्र का अर्थ समझना कठिन है। इस बात की पुष्टि में बृहद्देवता के प्रथम अध्याय का यह श्लोक द्रष्टव्य है-

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति।।[1]

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को प्रयत्नपूर्वक प्रत्येक मन्त्र के देवता का ज्ञान ठीक-ठीक होना चाहिए, क्योंकि जो मन्त्रों के देवता को जानते हैं, वे उन मन्त्रों के अर्थों को भी जानते हैं।

आचार्य यास्क ने देवताओं की दृष्टि से वेदमन्त्रों को दो भागों में विभक्त किया है- (1) आदिष्टदेवतलिङ्गमन्त्र तथा अनादिष्टदेवतलिङ्गमन्त्र।

(1) आदिष्टदैवतलिङ्गमन्त्र- जिन मन्त्रों में देवता के चिह्न (लिङ्ग) स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं, उन्हें आदिष्टदैवतलिङ्गमन्त्र कहते हैं।

(2) अनादिष्टदैवतलिङ्गमन्त्र- जिन मन्त्रों में देवताओं के चिह्न (लिङ्ग) स्पष्ट दिखाई नहीं देते हैं, उन्हें अनादिष्टदैवतलिङ्गमन्त्र कहते हैं।

(1) आदिष्टदैवतलिङ्गमन्त्र की पहचान- आचार्य यास्क ने आदिष्टदैवतलिङ्गमन्त्र की पहचान के विषय में कहा है कि-

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामर्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं
प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।।[2]

अर्थात् मन्त्र का ऋषि किसी भी पदार्थ की कामना से जिस देवता से उस पदार्थ की प्राप्ति को प्रार्थना करता है, वह उस मन्त्र का देवता होता है। उदाहरण-

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये।।[3]

---

1 बृह. 1/2
2 नि. 7/1
3 ऋ. , 01/1/9

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अर्थात् हे अग्ने! वह तुम पुत्र के लिए पिता के समान हमारे कल्याण के लिए सुगमता से प्राप्त होओ।

उपर्युक्त मन्त्र का ऋषि– 'मधुच्छन्दा' है तथा देवता 'अग्नि' है। मधुच्छन्दा ऋषि अग्नि– देवता से प्रार्थना करता है कि आप मुझे मेरे कल्याण के लिए ऐसे सहजता से प्राप्त हों, जैसे पिता, पुत्र के कल्याण के लिए सहज प्राप्त होता है। अग्नि से स्पष्ट प्रार्थना होने से यह मन्त्र आदिष्टदैवतलिङ्गमन्त्र की कोटि में आता है।

आचार्य शौनक ने भी देवता के सम्बन्ध में बृहद्देवता में कहा है कि–

अर्थमिच्छन्नृषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति।
प्राधान्येन स्तुवन्भक्त्या मन्त्रस्तद्देव एव सः।।[1]

अर्थात् किसी विषय की कामना करते हुए ऋषि जिस किसी देवता की स्तुति करता है, वही उस मन्त्र का देवता होता है। किसी देवता की प्रमुख रूप से भक्तिपूर्वक स्तुति करने वाला मन्त्र उसी देवता को सम्बोधित करता है।

"देवता मन्त्र का विषय होता है" इस विषय में सत्यभूषण योगी के दृष्टिकोण को उद्धृत करते हुए अपने ग्रन्थ (निरुक्तमीमांसा) में निरुक्त की पंक्तियों[2] की व्याख्या करते हुए श्री शिवनारायण शास्त्री लिखते है कि–

"हमारे विचार में ऋषि कवि हैं, और उनका मन्त्र काव्य है, इस दृष्टि से निरुक्त की अधः निर्दिष्ट पंक्ति की निम्न प्रकार से व्याख्या अधिक स्पष्ट होगी–

ऋषि अर्थात् कवि, (यत्काम) – जिस किसी पदार्थ का वर्णन करना चाहता हुआ, (यस्यां देवतायां) जिस विषय में, (आर्थपत्यम्) अपने अभीष्ट (वर्णन करने के लिए प्रस्तुत) विषय का अधिष्ठातृत्व इच्छन् – चाहता हुआ, (स्तुतिम्) – इस विषय का वर्णन, प्रयुङ्क्ते – करता है, (स मन्त्रः) – वह काव्य, (तद्दैवतो भवति) उस देवता वाला होता है।"

---

1 बृह. 1/6
2 यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। नि. 7/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

इस व्याख्या के अनुसार 'वर्ण्य-विषय' ही देवता है। ऋषियों ने बहुत से उलूखल, मूसल, शिलवट्टा (ग्रावा) आदि की स्तुति की है, उनसे उस अर्थ की कामना पूरी करना चाहता है, जिसे वे अचेतन होने के कारण पूरा नहीं कर सकते। उपर्युक्त दुर्गाचार्य-सम्मत व्याख्याओं के अनुसार यास्क का लक्षण इन ऊखल, मूलसादि पर नहीं घटता। किन्तु प्रकृत व्याख्या के अनुसार वर्णन का विषय होने के कारण उलूखल आदि भी देवता हो जाते हैं।[1] सर्वानुक्रमणी में इसी भाव का संकेत महर्षि कात्यायन ने सर्वप्रथम किया है-

'यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता।'[2]

वेदार्थदीपिका में षड्गुरुशिष्य ने और सरल शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट किया है-

तेन वाक्येन यत्प्रतिपाद्यं वस्तु, सा देवता।[3]

अर्थात् उस मन्त्र द्वारा प्रतिपाद्य जो वस्तु है, वह देवता है।

2. अनादिष्टदैवतलिङ्गमन्त्र

जिन मन्त्रों में देवता का कोई स्पष्ट संकेत नहीं होता, ऐसे मन्त्रों का देवता वही होता है, जो इन मन्त्रों के प्रयोग वाले यज्ञ या कर्म का देवता होता है। जैसे- अग्निष्टोम यज्ञ का देवता 'अग्नि' होता है।

आचार्य शौनक बृहद्देवता में मन्त्र में अनुक्त देवता के विषय में लिखते हैं-

मन्त्रेषु अनिरुक्तेषु देवतां कर्मतो वदेत्।
मन्त्रतः कर्मतश्चैव प्रजापतिरसम्भवे।।[4]

अर्थात् जिन मन्त्रों में देवता स्पष्ट न कहा गया हो, वहाँ कर्म (यज्ञ) के आधार पर ही देवता का निर्णय करना चाहिए। मन्त्र और

1 निरुक्त मीमांसा- डॉ. शिवनारायण जी- इण्डोलोजिकल बुक हाउस वाराणसी, दिल्ली वि.सं. 2026
2 सर्वानुक्रमणी- 2/4-5
3 वेदार्थदीपिका- 2/5
4 बृह. 7/16

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

कर्म दोनों के आधार पर देवता का पता न चलने पर उसका देवता प्रजापति होता है।

निरुक्तकार ने आचार्य शाकपूणि का मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि अनादिष्टदैवतलिङ्गमन्त्रों का देवता नाराशंस होता है। नाराशंस अग्नि ही है। ऐतरेय ब्राह्मण में अग्नि को ही सब देवताओं के रूप में माना है–

अग्निर्वै सर्वाः देवताः।[1]

अतः शाकपूणि के मत में अनादिष्टदैवतलिङ्गमन्त्रों का देवता 'अग्नि' होता है। वेदमनीषी प्रो. आचार्य डॉ. रामनाथ वेदालङ्कार ने 'वेदमन्त्रों के देवता एक पर्यालोचन' प्रकरण में मन्त्रों में देवताओं के स्वरूप पर एक बहुत ही सहज एवं सरल प्रस्तुतीकरण दिया है, इसका सार प्रस्तुत है–

"सूक्ष्मता को छोड़कर साधारणरूप से कहें, तो मन्त्र में जिस नाम से किसी की स्तुति की जाती है, अथवा जिस नाम से किसी से याचना, किसी की उपासना या किसी का आह्वान किया जाता है, अथवा जो मन्त्र में आत्म–परिचय प्रस्तुत करता है, वह उस मन्त्र का देवता होता है– यथा– **"अग्निमीडे पुरोहितं"**[2] में अग्नि नाम से परमेश्वर, भौतिक अग्नि, राजा आदि की स्तुति (गुणकीर्तन) की गई है, अतः 'अग्नि' इस मन्त्र का देवता है। **"आ त्वेता निषीदतेन्द्रमभिप्रगायत"**[3] में मनुष्यों को इन्द्र का स्तुतिगान करने की प्रेरणा की गई है, अतः 'इन्द्र' इस मन्त्र का देवता है। **"विश्वानि देव सवितः"**[4] में सविता से दुरित के दूरीकरण तथा भद्रप्राप्ति की प्रार्थना की गई है। अतः सविता इस मन्त्र का देवता है। **'अग्न आयाहि वीतये'**[5] में अग्नि का आह्वान किया गया है, अतः यह मन्त्र अग्नि देवता वाला है। **"युञ्जते मन उत युञ्जते धियः"**[6] में सविता नाम से परमेश्वर की उपासना का वर्णन है, अतः सविता उसका देवता

1 ऐ.ब्रा. 1/1
2 ऋ. 1/1/1
3 ऋ. 1/5/1
4 ऋ. 5/82/5
5 ऋ. 6/16/10
6 ऋ. 5/8/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

है। "अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य ...."[1] में परमेश्वर अन्न नाम से अपना परिचय दे रहा है, अतः 'अन्न' इस मन्त्र का देवता है।" और अन्य अनेक उदाहरण आचार्य जी ने दिए हैं। एतदर्थ उनका लेख द्रष्टव्य है।[2]

वस्तुतः अनादिष्टदैवतलिङ्गमन्त्रों में देवता के निर्णय का एक पक्ष यह भी है, अथवा अनादिष्टदैवतलिङ्गमन्त्र में देवताओं के उपकरण के रूप में स्तुत पदार्थ हैं, वे सब एक ही आत्मतत्व का रूप हैं-

एकं सद्विप्रा बहुधावदन्ति ....।[3]

ऋग्वेद के एक और मन्त्र में मघवा (इन्द्र) के विभिन्न रूप उसके एकात्मकता के प्रतीक हैं-

रूपं रूपं मघवा वोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परिस्वाम्।
त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा।।[4]

वह (मघवा) - सूर्य अथवा इन्द्र या परमेश्वर अपने प्रकृति पिण्ड से बने हुए अनेक रूपों को उनमें व्याप्त होने से भलीभांति जानता है। तथा जो अपने मन्त्रों से अथवा किरणों से अथवा शक्तियों से क्षण भर में तीनों लोकों को बिना ऋतुओं के प्रभाव के उन्हें जान लेता है, या उन्हें प्राप्त करने में समर्थ होता है।

अर्थात् वह एक ही मघवारूप इन्द्र, परमेश्वर वा सूर्य सब में व्याप्त है। वही एक सर्वदेवतारूप है।

वैदिक देववाद का यह आध्यात्मिक पक्ष महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य में अङ्गीकृत किया है। स्वामी जी अपने ऋग्वेदभाष्य के प्रथम मन्त्र में लिखते हैं-

अग्निम्- परमेश्वरं भौतिकं वा।[5] इसकी व्याख्या में आगे लिखते हैं-

अनेन एकस्य सतः परब्रह्मणः इन्द्रादीनि बहुधा नामानि सन्ति इति वेदितव्यम्। इसके प्रमाण में- एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'[6]

1 साम. 594
2 श्रुति / मन्थान पृ. 610 सम्पादक. डॉ. विनोद चन्द्र वेदरलङ्कार, श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्यधमार्थन्यास (2014)
3 ऋ. 1/164/46
4 ऋ. 3/53/8
5 ऋ.भा. स्वामी दयानन्द शताब्दी प्रकाशन, युधिष्ठिर मीमांसक (1973)
6 इन्द्र.मित्रं .... । ऋ. 1/164/46

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

यह मन्त्र भी उद्धृत करते हैं। उन्होंने अपने पक्ष की पुष्टि हेतु शतपथ ब्राह्मण का वचन भी उद्धृत किया है– **आत्मा वा अग्निः।**[1] **अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च।**[2] यहाँ 'प्रजा' भौतिक अग्नि का तथा प्रजापति ईश्वर का वाचक है।

वेद के भेद से देवता भेद

सामान्यतः तो मन्त्र का देवता वेद के भेद होने पर भी मुख्यतः एक ही रहता है परन्तु कहीं–कहीं देवता भेद भी दृष्टि–गोचर होता है। बृहद्देवता में तो मात्र ऋग्वेद के मन्त्रो के देवताओं का विवेचन हुआ है। महर्षि कत्यायन रचित सर्वानुक्रमणी के वृत्तिकार आचार्य षड्गुरुशिष्य ने एक वेद में पठित मन्त्र यदि दूसरे वेद में आया है, तो उसका देवता भी भिन्न होता है, ऐसा माना है। ऋग्वेद का एक मन्त्र उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है –

गावश्चिद्धा समन्यवः सजात्येन मरुतः सबन्धवः।
रिहते ककुभो मिथः।।[3]

उक्त ऋचा ऋग्वेद और सामवेद दोनों वेदों में उपलब्ध होती है, यद्यपि दोनों संहिताओं में पठित देवता तो मरुत् ही है। बृहद्देवता में इस मन्त्र का देवता मरुत ही माना है–

आगन्त मारुतं सूक्तम्.....[4]

महर्षि कात्यायन रचित ऋक् सर्वानुक्रमणी की षड्गुरुशिष्य कृत वृत्ति में सामवेदियों के मत में इस मन्त्र का देवता 'गावः' माना है।[5] ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहाँ भाष्यकारों ने मन्त्र का देवता विषय भेद से अन्य वेद में अलग माना है।

---

1 श.ब्रा. 7/2/3/2
2 श.ब्रा. 9/1/2/42
3 ऋ. 8/20/21, साम. 404, 1/5/2/6
4 बृहद्देवता 6/57
5 यथा 'गावः चिद्धा समन्यवः' इति वहचानां मारुती सैव सामवेद विदां तु (सामविधान ब्राह्मण 3/2/6 गोदेवत्या गवां तृण सृष्टि दानदर्शनात् ऋग्वेद सर्वा. 20/21 पर षडगुरु शिष्य वृत्ति।)

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

महर्षि दयानन्द सरस्वती का देवताविषक दृष्टिकोण–

स्वामी जी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'प्रश्नोत्तर विषय' प्रकरण में वेदमन्त्रों में देवता के स्वरूप पर थोड़ा सा प्रकाश डाला है–

"जिस–जिस मन्त्र का जो–जो अर्थ होता है, वही उसका देवता कहाता है। सो यह इसलिए है कि जिससे मन्त्रों को देखके उनके अभिप्रायार्थ का यथार्थज्ञान हो जाय। इत्यादि प्रयोजन के लिए देवताशब्द मन्त्र के साथ में लिखा जाता है"[1] अभिप्राय यह है कि मन्त्र के अर्थ को समझने में देवता का ज्ञान सहायक होता है। आचार्य डॉ. रामनाथ वेदालङ्कार ने स्वामी दयानन्द के यजुर्भाष्य में देवता प्रकरण मे लिखा है– "देवता लिखने से अर्थज्ञान में सहायता मिलती है। जैसे किसी निबन्ध के शीर्षक से यह पता चल जाता है कि इस निबन्ध में किस विषय पर विचार किया गया है।"[2] महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रायः मन्त्रों में सर्वानुक्रमणी में निर्दिष्ट देवताओं को ही स्वीकार किया है परन्तु जहाँ देवता के निर्धारण में ऐतिहासिक आधार को स्वीकार किया, वहाँ स्वामी दयानन्द जी का मतभेद है, क्योंकि स्वामी जी वेदों में इतिहास नहीं मानते।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 126 वें सूक्त के 1–5 मन्त्र में सर्वानुक्रमणी तथा वृहदेवता के अनुसार ऋषि कक्षीवान् द्वारा भावयव्य राजा द्वारा कृत दान की प्रशंसा की है। इसी सूक्त के मन्त्र सं. 6 व 7 में भावयव्य और रोमशा का सम्वाद है। बृहद्देवता में मन्त्र 6–7 में शाकपूणि के मतानुसार इन्द्र एवं रोमशा का वार्तालाप कहा गया है।[3] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सम्पूर्ण सूक्त के सातों मन्त्रों का देवता 'विद्वांसः' माना है। बृहद्देवता के अनुसार जिन मन्त्रों में (ऋचाओं में) दानस्तुति वर्णित हो, उन्हें नाराशंस नाम से जाना जाता है। अर्थात् उन ऋचाओं का देवता नाराशंस माना जाता है–

1 तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोस्ति स सोऽर्थस्तस्य तस्य देवता शब्देनभिप्रायार्थ विज्ञापनार्थं प्रकाश्ये। एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम्" ऋ.भा.भू.स्वा.द.स. पृष्ठ 397 सम्पादक युधिष्ठर मीमांसक रामलाल ट्रस्ट प्रकाश, 1973

2 श्रुति मन्थन – पृ. 615 सम्पादक डॉ. विनोद चन्द्र वेदालङ्कार 2014

3 पञ्चामन्दान भावयव्यस्य गीता जायापत्योः संप्रवादोद्विचेन। संप्रवादं रोमशयेन्द्र राज्ञोर् एते ऋचौ मन्यते शाकपूणिः।।

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

कर्माणि याभिः कथितानि राज्ञाम्
दानानि चोच्चावच मध्यमानि।
नाराशंसीरित्यृचस्ताः प्रतीयाद्
याभिस्तुतिर्दाशतयीषु राज्ञाम्।।[1]

अर्थात् उन ऋचाओं को जिनमें राजाओं के कार्यो का तथा उनके महान् लघु तथा मध्यम दानों का उल्लेख है, उन्हे ''नाराशंस'' के नाम से जानना चाहिए, क्योंकि ऋग्वेद के दस मण्डलो में ऐसी ही ऋचाओं द्वारा राजाओं की स्तुति की गई है। चूंकि स्वामी दयानन्द सरस्वती वेदों में इतिहास नहीं मानते, अतः वे ऐसे स्थानों पर देवता के निर्णय में मतभेद रखते हैं।

सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सूक्त-28 के मन्त्र संख्या 1-4 का देवता इन्द्र, मन्त्र संख्या- 5-6 का देवता उलूखल, मन्त्र संख्या - 7-8 का देवता उलूखल-मूसल तथा नवम मन्त्र का देवता प्रजापति हरिश्चन्द्र की स्तुति अथवा अभिषवणचर्य प्रशंसा देवता है। बृहद्देवता में दो श्लोको में इन मन्त्रों के देवताओं का विवेचन इस प्रकार है-

पराश्चतस्रो यत्रेति इन्द्रोलूखलयोः स्तुतिः।
मन्येतेयास्ककात्थक्याव् इन्द्रस्येति तु भागुरिः।।[2]

अर्थात् - यत्र से आरम्भ होने वाली चार ऋचाओं में अर्थात् ऋ.म.। सूक्त-28 के 1-4 मन्त्रों में यास्क और कात्थक्य के अनुसार इन्द्र और उलूखल की, किन्तु भागुरि ऋषि के विचार में केवल इन्द्र की स्तुति है। अतः क्रमशः इन्द्र और उलूखल इनके देवता हैं।

यच्चिद्धयूलूखलस्य द्वे द्वे परे मुसलस्यतु।
चर्माधिषणवीयं वा सोमं वान्त्या प्रशंसति।।[3]

---

1 बृहद्देवता, 3/154
2 बृहदेवता 3/154
Funding by IKS-MoE
3 बृहदेवता 3/101

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अर्थात् – 'यच् चिद्धि' से आरम्भ होने वाली ऋचाओं में अर्थात् मन्त्र 5-6 का देवता उलूखल तथा इसके बाद के दो मन्त्रों 7-8 का देवता मूसल है तथा अन्तिम मन्त्र (9) में सोम के लिए प्रयुक्त चर्म की प्रशस्ति है। निरुक्तकार ने इस (9) मन्त्र का देवता उलूखल ही माना हैं।[1] परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस सम्पूर्ण सूक्त का देवता 'इन्द्र यज्ञ सोमाः' माना है।

यजुर्वेद के मन्त्रों में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुः सर्वानुक्रमणी का सर्वत्र अनुसरण नहीं किया है। वस्तुतः इसका कारण है कि स्वामी जी ने यजुर्वेद के मन्त्रों का अर्थ सर्वथा यज्ञ (कर्मकाण्ड) परक नहीं माना है। स्वामी जी ने यज्ञपरक मन्त्रों के आध्यात्मिक एवं भौतिक व्यवहारपरक अर्थ किए हैं। इसी कारण मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ होने पर परमेश्वर आदि देवता भी स्वीकृत किए हैं। यजुर्वेद के प्रथम अध्याय मन्त्र 13 का, देवता सविता है, परन्तु स्वामी जी ने इन्द्र, अग्नि और यज्ञ देवता माना है। मन्त्र की प्रत्येक पंक्ति (चरण) का पृथक् देवता (विषय) लिखा है। मन्त्र उद्धृत है–

युष्माऽइन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वम् वृत्रतूर्ये प्रोक्षिता स्थ।[2] अग्नये त्वा षुष्टं प्रोक्षाम्यग्मीषोमाभ्यां त्वाषुष्टं प्रोक्षामि। दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्ञायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि।[3]

यजुर्वेद के अन्य अनेक मन्त्रों में स्वामी जी ने देवता का स्पष्ट नाम न होने पर भी परमात्मा देवता उल्लिखित किया है–

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोकाऽअधिश्रिताः।
यऽईशेमहतो महाँस्तेन गृह्णामित्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम्।।[4]

अर्थात् जो सब प्राणियों का अधिपति है, तथा जिसमें सब लोक-लोकान्तर अधिष्ठित हैं, जो महान् से भी महान् का भी स्वामी है, उसके ऐश्वर्य से मैं तुझको स्वीकार करता हूँ, मैं तुम को स्वयं का स्वामी स्वीकार करता हूँ।

1 नि. 9/21
2 ऋ. भा. भाष्य / स्वा. द. पृ. 38 / दयानन्द संस्थान प्रकाशन / सं. 2030
3 इन्द्रोदेवता, 2 अग्नि, 3 यज्ञोदेवता। यजु. 1/13
4 यजु. 20/32

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इस मन्त्र में देवता का कोई स्पष्ट संकेत नहीं है, परन्तु स्वामी जी ने इसका देवता परमात्मा उद्धृत किया है।[1] इसी परम्परा के आचार्य पं. जयदेव विद्यालङ्कार ने इन मन्त्र के देवता, आत्मा और परमात्मा दोनों स्वीकार किए हैं।[2] अर्थ की दृष्टि से स्वामी जी का देवता का उल्लेख सर्वथा सङ्गत प्रतीत होता है।

स्वामी जी ने विदुषी नारी को देवता स्वीकार किया है। स्त्री देवता के रूप में स्वामी जी ने पत्नी, दम्पती, स्त्रियः राजपत्नी को भी देवता लिखा है। उदारहण–

मूर्द्धासि राड् ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी।
आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा।।[3]
यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरिणी।
इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।।[4]

स्वामी जी ने इन दोनों मन्त्रों का देवता 'विदुषी' माना है। इसी प्रकार यजुर्वेद के कुछ मन्त्रों में स्वामी जी ने 'राजा'[5] 'सेनापति'[6] 'योद्धा'[7] 'सभापति'[8] 'न्यायाधीश'[9] और 'प्रजा'[10] को भी देवता के रूप में स्वीकार किया है

ग्रन्थ विस्तारभय से नीचे मन्त्रों का संदर्भ दिया गया है।

1 यजु. संहिता. पृ. 116 परोपकारिणी सभा प्रकाशन अजमेर
2 यजु. द्वि. खण्ड पृ. 125
3 यजु. 14/21
4 यजु. 14/22
5 यजु. 6/32 इन्द्राय त्वा वसुमते इन्द्रवत इन्द्राय त्वा।
6 यजु. 6/21 समुद्रङ्गच्छ स्वाहाऽन्तरिक्षङ्गच्छ स्वाहा।
7 यजु. 17/46 प्रेता जायता नरऽइन्द्रो वः शर्मयच्छतु।
8 यजु. 20/4-6 कोऽसि कतमोऽसि। जिश मे भद्रं वाङ्महो।
9 यजु. 23/21 उत्सक्थ्याऽअव गुदं धेहि।
10 यजु. 23/34, 35 द्विपदाचाश्चतुष्पदा महिमानि रयया विश्वा।।

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

तृतीय अध्याय
देवताओं की संख्या निर्धारण

देव सम्बन्धी पदों का भाषावैज्ञानिक एवं दार्शनिक अध्ययन

चारो वेदों में मन्त्रों (ऋचाओं) के देवता निर्धारित हैं। सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता जैसे ग्रन्थों में देवतओं का निर्धारण हुआ है। कहीं कहीं वेद-भाष्यकार ने मन्त्र के अर्थ-निर्धारण के अनुसार मन्त्र के देवता का उल्लेख सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता के निर्धारण से भिन्न भी किया है। पिछले प्रकरण में इसकी चर्चा की जा चुकी है। ऋग्वेद के अधि कांश सूक्त देवता-परक हैं। इन मन्त्रों में उन देवताओं की स्तुतियाँ एवं प्रार्थनाएँ वर्णित हैं। ये देवता प्रकृति के आधारभूत तत्व हैं, जैसे अग्नि, वायु, जल, सविता सोम, वरुण, यम, रुद्र, उषा आदि हैं।

कतिपय महत्त्वपूर्ण जीवनोपयोगी पदार्थ भी देवता के रूप में स्तुत हैं। जैसे- वृक्ष, नदी, समुद्र, बादल, पुष्कर, सर्पि (घी), अन्न, ऊखल, मूसल आदि। कहीं कहीं देवताओं का दार्शनिक पक्ष, स्तुति का आधार है जैसे- परमात्मा, जीवात्मा, हिरण्यगर्भ, पुरुष, हंस (जीवात्मा), विभुः (व्यापक) ब्रह्म, इन्द्र (परमेश्वर) आदि।

जब इन देवताओं के गुण और शक्तियों का वर्णन भौतिक दृष्टि से दृष्टिगोचर होता है, तब यही देवता भौतिक पदार्थो के वाचक होते हैं। जब इनके गुण और शक्तियाँ ब्रह्मपरक या आत्मपरक दृष्टि-गोचर हों तो ये देवता आध्यात्मिकता या दार्शनिकता के वाचक होते हैं। ये ही देवता वाचक जब शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों में व्याख्यात होते हैं तब यज्ञ में देवताओं को दी जाने वाली आहुतियों के माध्यम से कामनापूर्ति के साधक होते

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

हैं। वही देवता परक शब्द आरण्यकों एव उपनिषद् शास्त्रों में व्याख्यात होते हैं, तो ब्रह्मवाचक होते हैं। निर्वचन शास्त्रों में इसी प्रकार के सभी भावों को प्रकट करने वाली निरुक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

उदाहरणार्थ जहाँ अग्नि पद के दग्ध करने (जलाने) वाले अर्थ हैं व प्रकाशित करने वाले व सुखाने वाले भाव प्रकट करने वाली निरुक्तियाँ अग्नि के भौतिक पक्ष की व्याख्या करती हैं, वहीं इन्ही निरुक्तियों को आधार मानकर अग्नि को सर्व-प्रकाशक, सबका अग्रणी परमात्मा अर्थ होने से आध्यात्मिकभाव व दार्शनिकभाव प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त अग्नि पद के संकल्पशक्ति, ब्राह्मण, नेता, मंत्री आदि प्रतीकात्मक दार्शनिक व भौतिक अर्थो वाले भाव भी महर्षि अरविन्द एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि भाष्यकारों ने किए हैं।

इसी प्रकार इन्द्र-देवता वाचक पद के सभी निर्वचनों के आधार पर तथा व्याकरणिक व्युत्पत्तियों व भाषा वैज्ञानिक विवेचनों के आध ार पर भौतिक, दैविक तथा आध्यात्मिक-भाव वाले अर्थ प्राप्त होते हैं।

परम-ऐश्वर्य का स्वामी सम्पूर्णजगत् एवं आत्मा में प्रकाश करने एवं सबका पालक व धारक होने के कारण इन्द्र का परमेश्वर तथा इन्द्रियों का अध्ष्ठिाता होने से जीवात्मा अर्थ इन्द्र के दार्शनिक तथा आध्यात्मिक भाव हैं। इसी प्रकार सर्वप्रकाशक एवं अन्नों का दाता व धारणकर्ता होने से 'सूर्य' दैविकभाव वाला अर्थ है। शत्रुओं का नाशक तथा 'वह करने' की सामर्थ्य वाला होने से राजा, मन्त्री, सेनापति आदि अर्थ इसके भौतिकार्थ के वाचक हैं।

'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' में श्री सी.वी. वैद्य ने देवता के विषय में डॉ.वी.जी.रेले का मत प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि -

"वैदिक देवता मनुष्य शरीर की नाड़ी (मण्डल) पद्धति में गतिविधि के अनेक केन्द्रो का प्रतिनिधित्व करते हैं।"[1]

डॉ. रेले ने 'रोदसी' का अर्थ आकाश-पृथिवी (द्यावा-पृथिवी) न मानकर दो आकाश किया है। इसी प्रकार उन्होनें अश्विन, ऋभु एवं 'पूषा' की महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ की हैं। उन्होने वैदिक देवताओं से सम्बन्धित सभी

Funding by IKS-MoE

1 वैदिक वाङ्मय का इतिहास / पृ. 566-567 प्रकाशन वर्ष

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

उपाख्यानों का सूक्ष्म अध्ययन कर सार प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "वैदिक देवता मनुष्य के मस्तिष्क और सुषुम्ना में स्थित सक्रियता के भिन्न केन्द्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह सम्भव है कि वैदिक ऋषि मनुष्य के नाड़ी मण्डल की पद्धति को भलीभाँति समझते थे। उन्होनें बाहरी जगत् के चित्र को प्रतिरूप मानकर दोनों को एक प्रकार से वर्णित किया है।"[1]

ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों की गणना तो दार्शनिक सूक्तों में ही की जाती है। इनमें नासदीय-सूक्त, पुरुष-सूक्त, ज्ञान-सूक्त, हिरण्यगर्भ-सूक्त तो प्रमुख हैं, पुनश्च अन्य मन्त्रों में भी दार्शनिक दृष्टि स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 164 वे सूक्त में अनेकता में एकता का दर्शन होता है। अग्नि, मित्र, वरुण, इन्द्र, सुपर्ण आदि सभी देव, एक परमात्मदेव सत् स्वरूप के नाम है। यहाँ अनेकात्मकता में एकात्मकता का दर्शन स्पष्ट दिखाई देता है।[2]

नासदीय सूक्त (भाववृत्त सूक्त)

नासदीयसूक्त का देवता भाववृत्त है। भाववृत्त शब्द का अर्थ ही है- 'होने का वृत्त' अर्थात् सृष्टि का वृत्तान्त इस समस्त सूक्त में सृष्टि-उत्पत्ति विषयक दार्शनिक विचार उपलब्ध हैं। इस सूक्त को वेद विचारकों में 'नासदीय' और 'भाववृत्त' दोनों ही नामों से जाना जाता है।

'भाववृत्त' देवता के माध्यम से सृष्टि -उत्पत्ति वृत्तान्त ही प्रश्नों के माध्यम से जिज्ञासा की उत्पत्ति और समाधान दोनों इस सूक्त में दिए गए हैं। जब कोई व्यक्ति सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में विचार करता है, तो उसके मन में पहला विचार यही आता है, कि इस सृष्टि में सबसे पहला तत्व क्या था? वह सोचता है कि सृष्टि से पूर्व असत् (अभाव) तो निश्चित ही नहीं था, क्योंकि असत् (अभाव) से सत् (भाव) रूप सृष्टि नहीं हो सकती, न सत् (भाव) रूप ही कुछ था, क्योंकि व्यक्त रूप में तो कुछ था ही नहीं। तो क्या था, क्या हो सकता था? इन्ही स्वाभाविक दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर इस सूक्त में प्राप्त होता है।

1 वैदिक वाङ्मय का इतिहास सी.वी. वैध. पृ. 566, 67

2 इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु।। ऋ.1/164/46 Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् –
किमवरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।।[1]

अर्थात् तब (सृष्टि) से पूर्व न असत् था, न ही सत् था, न रजस् था, न ही उससे परे व्योम था। यह किससे आवृत्त (ढका हुआ) था, कहाँ और किस की शरण में था? क्या (वहाँ) गहरा और गम्भीर जल था?

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
अनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धन्यन्न परः किञ्चनास।।[2]

अर्थात् – उस समय न मृत्यु थी, न अमृत, न रात्रि थी, न दिन का (प्रकाशरूपी) चिह्न था, अर्थात् उस समय सूर्य भी नहीं था। वह एक अपनी शक्ति से विना वायु के प्राण धारण कर रहा था, उससे परे कुछ भी नहीं था।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वामा इदम्।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।।[3]

अर्थात् – तब (प्रारम्भ में) अन्धकार से भी गहन अन्धकार था, यह सब अप्रज्ञात सलिल (गतिशील) जगत था। जो कुछ भी विद्यमान था, (वह सब) शून्य से आवृत्त था, वह एक तपस् की (ज्ञान की) महिमा से प्रादुर्भूत हुआ।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतोबन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।।[4]

तब आरम्भ में काम उत्पन्न हुआ, अर्थात् सृष्टि की इच्छा उत्पन्न हुई, जो मन का प्रथम रेतस् था। मनीषी कान्तदर्शी ऋषियों ने हृदय में विचार कर सत् के सम्बन्ध को असत् में परिवर्तित (विश्लिष्ट) पाया।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत अजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाऽथ को वेद यत आवभूव।।[5]

1 ऋ. 10/129/1
2 ऋ. 10/129/2
3 ऋ. 10/129/3
4 ऋ. 10/129/4
5 ऋ. 10/129/6

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अर्थात् कौन जानता है? किसने इसके विषय में बताया कि यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई? क्योंकि देव भी इस जगत् (भोग सृष्टि) के बाद पैदा हुए।

सूक्त के अन्त में सृष्टि उत्पत्ति का सार (भाववृत्त) इस दार्शनिक दृष्टि से किया है कि–

इयं विसृष्टिर्यत् आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।।[1]

अर्थात् यह सृष्टि जिस मूल से अस्तित्व में आयी, उसे धारण करता है, तो वह, नहीं धारण करता है, तो वह। परम व्योम में जो इसका अध्यक्ष है, जानता है, तो वह, नहीं जानता है, तो वह।

हिरण्यगर्भ सूक्त

इसी प्रकार 'हिरण्यगर्भ सूक्त' का देवता 'कः' है। 'कः' का अभिप्राय है, 'प्रजापति।' शतपथ ब्राह्मण में 'कः' का अर्थ प्रजापति किया है– प्रजापतिर्वै कः।[2] शवरस्वामी ने (कस्मै) को (एकस्मै) का वचाक माना है, अर्थात् एक मात्र परमेष्ठवर के लिए हमारी हवियाँ हों। दार्शनिक भाव तो (एकस्मै) का भी एक प्रजापति (परमेश्वर) ही हुआ। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'कः' का अर्थ सुखस्वरूप परमेश्वर किया है, जिसका कारण निरुक्तकार की (कः) पद की निरुक्ति है–

"कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा"[3]

पाश्चात्य विद्वानों ने 'कस्मै' पद को 'किम्' शब्द की चतुर्थी विभक्ति एक वचन का रूप मानकर 'कस्मै' का अर्थ "किस देवता के लिए" किया है। यद्यपि सायणाचार्य जी ने इसका भी उत्तर निरुक्त-कार के सहयोग से निम्न प्रकार दिया है–

"अत्र किं शब्दोऽविज्ञातस्वरूपत्वात्-प्रजापतौ वर्तते।" अर्थात् प्रजापति का स्वरूप विदित नहीं है, अतः प्रश्नवाचक किं शब्द यहाँ प्रजापति

1 ऋ. 10/129/7
2 श. ब्राह्मण 7/4/19
3 नि. 10/22

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

के अर्थ में है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक कथा के माध्यम से 'कः' का प्रजापति भाव स्पष्ट किया है। कथा इस प्रकार है–

प्रजापति ने देवों के बाद इन्द्र को बनाया और कहा– 'जाओ तुम इन देवों के अधिपति बनो।' देवों ने कहा–तुम कौन हो? हम तुमसे बड़े हैं। इन्द्र ने प्रजापति से उनका आदित्यरूप तेज माँग लिया। इन्द्र ने प्रजापति से कहा–अपना आदित्य के समान तेज मुझे दे दो। दूँगा तो मैं क्या रहूँगा इन्द्र ने कहा–तुम क्या 'कः' रहोगे। अतः प्रजापति की संज्ञा 'कः' हो गई।[1]

ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त के मन्त्र यजुर्वेद में पृथक्–पृथक अध्यायों में प्राप्त होते हैं। यद्यपि इस सूक्त का ऋषि 'हिरण्यगर्भ–प्रजापत्य' है। अनेक सूक्तों में उस सूक्त के ऋषि के नाम प्रख्यात हैं। हिरण्यगर्भ की निरुक्ति आचार्य यास्क ने इस प्रकार की है– हिरण्यगर्भो हिरण्मयो गर्भः। हिरण्मयो गर्भोऽस्येति वा[2] हिरण्यादि सुवर्ण–मय सूर्यादि पदार्थों को अपने गर्भ में धारण करने वाला। हिरण्यगर्भ शब्द भी प्रजापति (परमेश्वर) का ही वाचक है। स्वामी दयानन्द सरस्वती यजुर्वेद में हिरण्यगर्भ शब्द का अर्थ लिखते हैं– 'स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करने हारे सूर्य–चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण' किए हैं। अतः इस सूक्त का हिरण्यगर्भ और 'कः' (प्रजापति) शब्द ही दार्शनिकता के बोधक है। उदाहरण के लिए हिरण्यगर्भसूक्त का प्रथम मन्त्र तथा उसका भाव उद्धृत है–

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।[3]

जो हिरण्गर्भ अर्थात् स्वप्रकाशस्वरूप तथा प्रकाश करने वाले सूर्य चन्द्रमादि को धारण करने वाला है, वह इस जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व विद्यमान था। वही उत्पन्न हुए जगत् का एक मात्र रक्षक व स्वामी

---

1 इन्द्रेण पृष्टः प्रजापतिर्मदीयमहत्त्वं तुभ्यं प्रदायाहं कः स्यामिति उक्तवान् स इन्द्रः प्रत्यूषे इदीदं ब्रवीष्यंह कः स्यामिति तदेव त्वं भवेदिति। अतः कारणात् कः इति प्रजापतिराख्यते। तै. ब्रा. 2/2/10/102

2 नि. 10/33

3 ऋ. 10/121/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

था। उसी ने पृथिवी और द्युलोक को धारण किया हुआ है। हम उस हिरण्यगर्भ (प्रजापति) की विशेष हवि से भक्ति करें।

इस समस्त सूक्त में प्रजापतिरूप हिरण्गर्भ प्रभु की शक्ति एवं भक्ति या आराधना का वर्णन है।

आचार्य शौनक ने भी जिस मन्त्र में देवता का नाम स्पष्ट रूप से उक्त नहीं है, ऐसी स्थिति में उस मन्त्र या सूक्त का देवता प्रजापति माना है। अतः उपर्युक्त सूक्त का देवता 'कः' में देवता की स्पष्ट उक्ति न होने से प्रजापति ही 'कः' का अर्थ उचित है–

मन्त्रेषु ह्यनिरुक्तेषु देवतां कर्मतो वदेत्।
मन्त्रतः कर्मतश्चैव प्रजापतिरसम्भवे।।[1]

अर्थात् मन्त्र और कर्म दोनों के आधार पर देवता का कथन न होने पर उनका देवता प्रजापति होता है।

पुरुषसूक्त

इस सूक्त का ऋषि नारायण तथा देवता पुरुष है। अतः सूक्त का विषय 'पुरुष' का विवेचन है। पुरुष शब्द का अर्थ यहाँ सृष्टिकर्ता तथा तीनों कालों का ज्ञाता व पालन-पोषणकर्ता परमेश्वर है। इस सूक्त में संसार की उत्पत्ति के रहस्य को बड़े ही मनोरम ढंग से प्रस्तुत किया गया है। पुरुषरूप परमेश्वर की महिमा का वर्णन कर, उसको संसार की उत्पत्ति का मूलकारण बताकर, वर्ण व्यवस्था, वेद का आविर्भाव आदि विषयों की चर्चा इस सूक्त का वर्णनीय विषय है।

'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्ति, निरुक्ति आदि पर सभी भाषाशास्त्रियों ने सूक्ष्मता से विचार किया है। ऐसे सभी विचार संक्षेपतः प्रस्तुत किए जा रहे हैं। सर्वप्रथम महर्षि पाणिनि का विचार प्रस्तुत है। महर्षि पाणि ानि के अनुसार पुरुष शब्द जुहोत्यादिगण की पृ पालन-पूरणयोः धातु से औणादिक सूत्र 'पृनहिकलिभ्यउषच्' से उषच् प्रत्यय लगकर बनता है।[2] इसका अभिप्राय है, कि जो चराचर जगत् को पालता व पोषता है, वह

1 बृहद्देवता - 7/16
2 उणा. 4/76

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

पुरुष है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में 'पुरुष' की व्युत्पत्ति व निरुक्ति करते हुए उपर्युक्त व्युत्पत्ति को पुष्ट किया है– (√ पृ पालन पूरणयोः) इस धातु से पुरुष शब्द सिद्ध होता है– "यः स्व व्याप्त्या चराचरं जगत् पृणाति पूरयति वा सः पुरुषः" जो सब जगत् में पूर्ण हो रहा है इसलिए उस परमेश्वर का नाम पुरुष है[1]

दूसरी व्युत्पत्ति– तुदादिगणीय धातु पुर अग्रगमने धातु से औणादिक सूत्र 'पुरः कुषन्' से कुषन् प्रत्यय लगकर पुरुष शब्द सिद्ध होता है। इसकी वृत्ति में स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखते हैं– पुरत्यग्रे गच्छति इति पुरुषः पुमान्। "अन्येषामपि दृश्यते"[2] इति दीर्घे पूरुषः वा। अर्थात् जो आगे ले जाता है अथवा जो सर्व प्रथम सब कुछ जानता व प्राप्त होता है, वह पुरुष अथवा पूरुष है। यह अर्थ भी परमात्मा वाचक अथवा अग्रग्रामी पुरुष (मनुष्य) का वाचक है।[3]

सायणाचार्य के मत में "सर्व प्राणियों का समष्टिरूप, ब्रह्माण्ड देह के समान धारण करने वाला विराट् नामक पुरुष है।"[4]

स्वामी दयानन्द सरस्वती पुरुष सूक्त के प्रथम मन्त्र के भाष्य में

पुरुष का अर्थ करते है – सर्वत्र पूर्णो जगदीश्वरः।[5] स्वामी जी अपने संस्कृत भाष्य में आचार्य यास्क की तीनों निरुक्तियों का उल्लेख किया है–

1. **पुरुषः पुरिषादः।** पुर + सद् अर्थात् (पिण्ड या ब्राह्मण्ड) पुरी में स्थित रहने वाला पुरुष कहलाता है।[6]
2. **पुरुष पुरिशयः।** पुर् + शी अर्थात् (पिण्ड या ब्राह्मण्ड) पुरी में शयन करने वाला पुरुष कहलाता है।[7]

---

1 स. प्र. प्र. समु.
2 6/3/116
3 उमा. 4/75 स्वा. दया. वृत्ति. सत्यव्रत शास्त्री वृत्ति सहित आचार्य गु.कु. एटा पृ. 190 सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुषः इति।
4 सायणभाष्य (पुरुषसूक्त) सन्दर्भ–वेदसमुल्लास सत्यभूषणयोगी स्वा. द. यजु. भा. मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन 1971
5 नि. 1, 2
6 सर्वत्र पूर्णो जगदीश्वरः सवा. दयानन्द यजु. भा. 31/1
7 नि. 2/3-4

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

3. **पूरयतेर्वा पूरयति अन्तरित्यन्तर पुरुषमभिप्रेत्य पृ पालन पूरणयोः। पूरी** आप्यायने धातु से निष्पन्न है।[1]

अर्थात् जो सब जगत् का पालक अथवा पूरक है, या जो सब जगत् में पूर्णतया व्याप्त है, वह पुरुष (परमेश्वर) है।

शतपथब्राह्मण में पुरुष को 'प्राण' कहा है– **"इमे वै लोका पूरयमेव पुरुषोयोऽयं (वायुः) पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः।"** पुर + शी।[2] अर्थात् यह प्राणवायु पुरुष है, क्योंकि प्राण (वायु) इन सभी प्राणियों के शरीर में व्याप्त होकर शयन करता है।

गोपथब्राह्मण में भी पुरुष का प्राणभाव वाला निर्वचन प्राप्त होता है–

प्राण एष स पुरि शेते, स पुरि शेते इति पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते।[3] पुर + शी अर्थात् क्योंकि यह प्राण पिण्ड पुरी में शयन करता है। अतः पुरी में शयन करता हुआ प्राण ही पुरुष कहलाता है।

अन्यत्र प्रसङ्गो में पुरुष शब्द का प्रयोग प्राण के अर्थ में भी सम्भव है परन्तु पुरुषसूक्त में आचार्य यास्क का मत ही सभी वैदिक आचार्यों को अभिप्रेत प्रतीत होता है। पुरुषसूक्त का प्रथम मन्त्र उदाहरणार्थ प्रस्तुत है–

सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्टद्दशाङ्गुलम्।।

अर्थात् वह पुरुष हजारों शिरों वाला, हजारों आखों वाला तथा हजारों पैरों वाला है। वह भूमि को सब ओर से आवृत्त करके दशाङ्गुल परिमाण अधिक होकर स्थित है। इस मन्त्र में 'सहस्र' शब्द उपलक्षण है। वह सहस्र अर्थात् अनन्तशिरों की शक्ति वाला है, यह अभिप्राय है। सब प्राणियों के शिरों की विचार शक्ति उस महान् पुरुष में विद्यमान है। इस कारण उसके हजारों शिर हैं, यह आशय है। इसी प्रकार उसकी हजारों आँखें और हजारों पैर होने का अभिप्राय है, पुरुष (परमात्मा) में

---

1 नि. 2/3
2 शत. ब्रा. 13/6/2/1
3 गोपथ ब्राह्मण 1/1/39

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अनन्त पैरों की तथा अनन्त आँखों की शक्ति विद्यमान है। उस प्रभु में देखने की शक्ति अनन्त है तथा गति की शक्ति भी अनन्त है।

पञ्चस्थूलभूत और पञ्चसूक्ष्मभूत इन दशाङ्ग वाला जगत् दशाङ्गुल कहाता है। पुरुष उससे भी परे है, वह दश इन्द्रियों के विषय भी भाँति गोचर नहीं है, वह इन्द्रियातीत है, अतः वह अतितिष्ठदशाङ्गुल है।

अगले मन्त्रों में भी पुरुष इसी प्रकार समस्त सृष्टि का रचयिता, वेदों का प्रकाशक परमेश्वर कहा है।[1]

ज्ञानसूक्त

इस सूक्त का ऋषि बृहस्पति-आङ्गिरस है, तथा देवता ज्ञान है। अतः सूक्त का विषय ज्ञान के स्वरूप एवं उसकी महिमा का वर्णन करना है। ज्ञान की अभिव्यक्ति एवं ज्ञान की प्राप्ति दोनों का साधन वाणी है। अतः वाणी का समुचित प्रयोग करते हुए परावाणी (ब्रह्मवाणी) तक पहुँचना एवं पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी का यथार्थ-ज्ञान ही ब्रह्मणस्पति के ज्ञान का उपाय है। उस बृहस्पति ने सब संसार के कल्याण के लिए अपने निर्दुष्ट ज्ञान को प्राणिमात्र के लिए प्रदान किया, तथा केसे वाणी का समुचित प्रयोग करते हुए यातव्यपथ को प्राप्त कर सकता है, इसका उदाहरण नीचे के मन्त्रों में देखिए।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रे यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥[2]

अर्थात् हे बृहस्पति! जब नामधेय (सुविख्यात) ऋषियों ने वाणी के प्रमुख स्वरूप को प्रेरित किया, तब उनके पास जो भी दोष रहित ज्ञान था, उसे सब प्राणियों के कल्याण के लिए प्रकट किया।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥[3]

जैसे सत्तू को चलनी में छानकर प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार

1 ऋ. 10/90/6, 7, 8
2 ऋ. 10/71/02
3 ऋ. 10/71/2

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

बुद्धिमान् लोग मन रूपी चलनी से छानकर अर्थात् मनन करके ही वाणी का प्रयोग करते हैं। तब उसका परिणाम यह होता है कि जिनके साथ यह उत्तम वाणी प्रयोग की जाती है, वे सब इसके मित्र दिखाई पड़ने लगते हैं, तथा प्रयोगकर्ता की वाणी पर भद्रलक्ष्मी निवास करती है। वाणी का समुचित प्रयोग सबको अपना बनाती है, तथा लक्ष्यसिद्धि में सहायक होती है।

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभिसंनवन्ते।।[1]

धीर (विद्वान्) जनों ने यज्ञ (ब्रह्मयज्ञ) अर्थात् स्वाध्याय द्वारा वाणी के मार्ग को प्राप्त किया अर्थात् वे गुरुओं के उपदेश तथा स्वाध्याय के बल से भाषाशास्त्र के विद्वान् बने, पश्चात् ऋषियों के उस ज्ञान को अनेक लोगों तक पहुँचाया। वेद के सात छन्दों में आबद्ध मन्त्रों अथवा संगीत के सप्त स्वरों अथवा पाँच ज्ञानेन्द्रियों व मन और बुद्धि इन सातों के माध्यम से उस वाणी का प्रसार किया।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वःशृण्वन्नशृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा।।[2]

इस मन्त्र में कहा गया कि वाणी अपने स्वरूप को केवल उस व्यक्ति के समक्ष विवृत करती (खोलती) है, जो मन से एकाग्र ध्यानावस्थित होकर वाणी की साधना करते हैं। अतः मन्त्र का भावार्थ देखिए–

"एक व्यक्ति वाणी (के स्वरूप) को देखता हुआ भी नहीं देखता, और एक (दूसरा) व्यक्ति (वाणी को) सुनते ही हुए भी नहीं सुनता। यह वाणी एक (तीसरे) व्यक्ति लिए अपने स्वरूप को उसी प्रकार विवृत कर देती है, जैसे कामना करती हुई सुन्दर वस्त्रों को धारण करने वाली स्त्री, पति के लिए अपने शरीर को विवृत्त कर देती है।"

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा वभूवुः।
आदध्नास उपकक्षास उत्वे ह्रदा इव स्नात्वा उत्वे ददृशे।।[3]

---

1 ऋ. 10/71/3
2 ऋ. 10/71/04
3 ऋ. 10/71/7

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अर्थात् समान आँखों वाले और समान कानों वाले व्यक्ति मन की गति में असमान होते हैं। कुछ व्यक्ति उन तालाबों के समान हैं, जिनका पानी मुख तक आता है, तथा कुछ उन तालाबों के समान हैं, जिनका जल कक्ष अर्थात् काँख तक आता है, तथा कुछ ऐसे तालाबों के समान हैं, जिनमें आशीर्ष डुबकी लगाई जा सकती है।

(वाणी) ज्ञान के देवता के स्वरूप को जानने में वेद कहता है कि मन की एकग्रता प्रमुख है। बाह्य इन्द्रियों की भूमिका गौण होती है। अतः मानसिक (बौद्धिक) क्षमता का विकास प्रमुख है।

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

चतुर्थ अध्याय
देवों का त्रिधा विभाजन

देवताओं की संख्या-निर्धारण व विभाजन

अब तक के प्रकरणों में हमने वैदिक देवताओं से सम्बन्धित देव शब्द का निर्वचन, व्युत्पत्ति उसका स्वरूप उनका दार्शनिक एवं भाषावैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इस प्रकरण में देवताओं की संख्या तथा उनके विभाजन, वेद एवं वैदिक साहित्य की दृष्टि से प्रस्तुत किया जाएगा।

ऋग्वेद के अनुसार देवताओं की संख्या तैंतीस बताई गई है। इसके कतिपय मन्त्र प्रमाण रूप में भावार्थ सहित प्रस्तुत हैं-

श्रुष्टीवानो हि दाशुषे देवा अग्ने विचेतसः।
तान् रोहिदश्वगिर्वणस्त्रयस्त्रिंशतमा वह।।[1]

हे अग्ने! ज्ञान व प्रकाश स्वरूप प्रभो! विचेतसः देवाः- विशेष ज्ञान युक्त विद्वान् लोग, दाशुषे - देने वाले के लिए श्रुष्टीवानः- प्रेरणा प्रदायक हैं, (श्रुष्टि प्रेरणार्थः)। हे रोहिदश्व- इन्द्रिय रूपी अश्वों को गति देने वाले, गिर्वणः - वेदवाणियों द्वारा स्तुति करने योग्य, तान्-उन, त्रयस्त्रिंशतम-तैंतीस देवताओं को, दिव्य गुण युक्तों को, आवह- प्राप्त कराओ।

ऋग्वेद के आठवें मण्डल के तीसवें सूक्त के द्वितीय मन्त्र में 33 देवताओं का उल्लेख हुआ है-

इति स्तुतासो असथा रिशादसो ते स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च।
मनोर्देवा यज्ञियासः।।[2]

---

1 ऋ. 1/45/2
2 ऋ. 8/30/2

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अर्थात् हे पूजनीय देवो! तुम संख्या में 33 हो, वे तुम स्तुति पाकर मनुष्य के रक्षक होते हो।

इन तैंतीस देवों की व्याख्या में ब्राह्मण ग्रन्थो में आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक बृहस्पति का उल्लेख हुआ है–

ऐभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ्, नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः।
पत्नीवतं त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व।।[1]

हे अग्ने! अग्रणी व प्रकाशमान नायक! तुम उक्त वीरों के साथ एक समान रथवाले होकर अनेक रथों सहित आगे बढ़। वे अश्वों के समान विशेष रूप से सामर्थ्यवान् एवं किरणों के साथ प्रकाशमान् हों, तुम वैभव तथा शक्ति से युक्त 33 देवताओं को धारण करो।

ये देवासः दिव्येकादशस्थ पृथिव्यामेकादशस्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादशस्थते देवासः यज्ञमिमं जुषध्वम्।।[2]

हे द्युलोक के ग्यारह, पृथिवीलोक के ग्यारह तथा अपनी महिमा से विराजमान अन्तरिक्ष लोक के ग्यारह अर्थात् कुल 33 देवो! आप इस (सृष्टि) यज्ञ को सेवन करो।

अथर्ववेद में भी द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवीस्थ देवों का उल्लेख है, परन्तु वहाँ संख्या का उल्लेख नहीं है। अधःप्रदत्त मन्त्र को देखिए–

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये चेमे भूम्यादधि।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु।।[3]

ये–जो दिविषदः देवाः–द्युलोक में स्थित देवता हैं, तथा जो अन्तरिक्ष में स्थित देवता हैं एवं जो पृथिवी लोक में स्थित देवता हैं, हे प्रभु! आप उन्हें दूध, घी तथा मधु से भरपूर करो। अर्थात् देवता हमें दूध घी व मधु के दाता हों। आध्यात्मिक दृष्टि से दूध, घी व मधु तुल्य ज्ञान से भरपूर करें।

यद्यपि इन मन्त्रों में यह स्पष्ट नहीं है कि द्युलोक, अन्तरिक्षलोक

---

1 ऋ. 3/6/9
2 ऋ. 1/139/11
3 अथर्व. 10/9/12

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

और पृथिवीलोक के ये तैंतीस देवता कौन-कौन से हैं। कौन से द्युस्थानीय हैं, कौनसे अन्तरिक्षस्थानीय हैं, और कौनसे पृथिवीस्थानीय हैं? इनका विवेचन ब्राह्मणादि ग्रन्थों में तथा निरुक्त में उपलब्ध होता है।

शतपथ ब्राह्मण में 33 देवताओं का विभाजन इस प्रकार प्राप्त होता है।

आठ वसु + ग्यारह रुद्र + बारह आदित्य + एक द्यौ + तथा एक पृथिवी - इस प्रकार 8+11+12+2 - 33 देवता हैं। वहाँ प्रजापति को 34 वाँ देवता कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में अन्यत्र स्थान पर थोड़े से भेद से तैंतीस ही देवताओं का विवरण प्राप्त होता है। यहाँ आठ वसु + ग्यारह रुद्र + बारह आदित्य तथा द्यौ और पृथिवी के स्थान पर इन्द्र और प्रजापति की गणना की है।[1] इस प्रकार यहाँ 8+11+12+2 - 33 तैंतीस देवताओं का ही वर्णन है।

ये आठ वसु, ग्यारह रुद्र तथा बारह आदित्य कौन-कौन से है? इनका उत्तर भी ब्राह्मण ग्रन्थो में प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण में प्रश्न उठाकर उसका उत्तर देते हुए कहा है- कतमे वसव इति। **अग्निश्च पृथिवी च वायुरन्तरिक्षं चादित्याश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च सर्व नक्षत्राणि चैते वसव एते हरिं सर्व वासयन्ते ते यदिदं सर्व वासयन्ते तस्माद्वसव इति।**[2] अर्थात् वसु कौनसे हैं?

आठ वसुओं का विवेचन

1. अग्नि	2. पृथिवी	3. वायु
4. अन्तरिक्ष	5. आदित्य (सूर्य)	6. द्यौ (द्युलोक)
7. चन्द्रमा और	8. नक्षत्र	

ये आठ वसु हैं। ये वसु इसलिए कहलाते हैं क्यों कि सम्पूर्ण जगत् इनमें ही वसता है, अथवा ये ही सबको बसाते हैं, सबके निवास का स्थान हैं।[3]

---

1 अष्टौ वसव, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्या, इमे एव द्यावा पृथिवी त्रयस्त्रिंश्यौ। त्रयस्त्रिंशद् वै देवाः। प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः। श. प. ब्रा. 4/5/72

2 स होवाच - एवैषामेते, त्रयस्त्रिशत्त्येव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिशदिति? अष्टौ वसवः एकादश रूद्रा, द्वादशादित्याः, त एकत्रिशंत इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिशदिति।। श. प. ब्रा. 11/6/3/5

3 श. प. ब्रा. 11/6/3/6 (जै. ब्रा. 2/77)

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश में 'वसु' शब्द को परमात्मा का वाचक माना है तथा वसु शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है –

(वस निवासे) इस धातु से 'वसु' शब्द सिद्ध होता है। **"वसन्ति भूतानि यस्मिन्नथवा यः सर्वेषु वसति स वसुः ईश्वरः"** जिसमें सब आकाशादि भूत बसते हैं और जो सबमें वास कर रहा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम वसु है।[1]

निरुक्त में वसु सूर्य की किरण को भी कहा गया है–

"वसवो आदित्यरश्मयो विवासनात्। वसवो यद् विवसते सर्वम्।"[2] किरणें भी इसलिए वसु कहलाती है, क्योंकि वे जीवन दायिनी (वसाने वाली) होती हैं। √ वस आच्छादने अर्थ वाली धातु का विनियोग भी सम्भव है, क्योंकि कि सूर्यकिरणों से सब जगत् आच्छादित है, अतः वे वसु हैं। वायु, अन्तरिक्ष (आकाश) और आदित्य भी वसु कहाते हैं, क्योंकि ये सब भी सबको बसाते हैं।[3]

निघण्टु में भी वसु रश्मियों को कहा गया है। वहीं वसु की निरुक्ति वस निवासे धात्वर्थक निर्धारित करते हुए लिखा है– वसवः (रश्मयः) । √ वस निवासे।

वसन्ति लोकेषु वसन्त्यत्र रसाः वसत्यत्र तेजः। वस + उ[4] अर्थात् वसु रश्मियाँ हैं। क्योंकि जो (रश्मियाँ) लोकों में वसती हैं, या जिनमें रस (जल) वसते हैं। सूर्य की किरणों में जल बसते हैं, क्योंकि वे ही समुद्रादि से जल को आकृष्ट कर मेघ में परिवर्तित करती हैं। अतः रश्मियाँ (वसु) हैं।[5] दूसरी निरुक्ति है कि "विवासयति तमः इति वसुः।" अर्थात् जो अन्धकार को मिटाती हैं, वे किरणें वसु हैं। एक और निरुक्ति – "वासयितारो वा लोकानां वृष्ट्यादि प्रदानेन।" किरणें अर्थात् जो वृष्टि आदि प्रदान कर लोकों को जीवन प्रदान करते हैं, वे (किरणें) वसु हैं।[6]

1 सत्यार्थ प्रकाश प्र. सं.
2 नि. 12/41
3 श. प. ब्रा. 11/6/3/6
4 निघ 1/5/10
5 निघ. 1/5/10
6 वघी.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

वसु धन को भी कहा गया हैं। वसु धनम्। वस्ते आच्छादयति तिरो भावयति दारिद्रयं √ वस। आच्छादने। अर्थात् वसु धन है, जो दरिद्रता को तिरोहित अर्थात् नष्ट करता है, वह धन ही वसु है।[1]

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के सूक्त पैंतीस के एक मन्त्र में वसु आदि देवों से सुख व शान्ति की प्रार्थना की गई है।

शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिहश्रृणोतु।।[2]

अर्थात् यहाँ इस जीवन में या इस लोक में वसुओं के साथ इन्द्र हमें, शान्ति व सुख प्रदान करने वाले हों। इसी प्रकार आदित्यों के साथ प्रशंसनीय वरुण शान्ति व सुखदायी हों, रुद्रों के साथ अर्थात् प्राणों के साथ रुद्र दुखनिवारक रुद्र सुख व शान्ति के दाता हों एवं पवित्र व शान्तिकारिणी वाणियों के साथ अग्नि अर्थात् ज्ञान व प्रकाश स्वरूप प्रभु हमें सुखकारी संदेश दें।

इस मन्त्र में, 'वसुभिः' 'आदित्येभिः' व 'रुद्रेभिः' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त होने के कारण वसुओं, आदित्यों और रुद्रों की संख्या की ओर संकेत करते हैं। जिसकी व्याख्या हमें निरुक्त व ब्राह्मण ग्रन्थों में आठ वसु ग्यारह रुद्र व वारह आदित्यों के रूप में प्राप्त होती है। आचार्य सायण तथा स्वामी दयानन्दादि भाष्यकारों ने इनकी उक्त संख्या का उल्लेख अपने अपने वेद-भाष्य में किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'वसुभिः' से पृथिव्यादि आठ वसुओं, रुद्रेभिः से प्राणादि तथा 'आदित्येभिः' से सम्वत्सर के बारह महीनों का संकेत दिया है।[3]

---

1 निघ. 2/10/15
2 ऋ. 7/35/6
3 ऋ. भा. स्वा. द. दयानन्द सं. प्रकाशन संम्वत् 2032

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

ग्यारह रुद्रों का विवेचन

शतपथब्राह्मण व जैमिनीयब्राह्मण में ग्यारह रुद्रों का विवेचन प्राप्त होता है।

ग्यारह रुद्र दस प्राण–प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान तथा नाग, कूर्म, कृकिल, देवदत्त और धनञ्जय तथा ग्यारवाँ आत्मा जिसे सूत्रात्मा वायु भी कहा जाता है। दसों प्राण और ग्यारहवें आत्मा को रुद्र इसलिए कहा जाता है, क्योंकि जब ये प्राण तथा आत्मा शरीर को छोड़ते हैं, तब ये इन्सान को रुलाते है, अतः ये प्राण तथा आत्मा रुद्र कहलाते हैं।

जैमिनीय ब्राह्मण में भी रुद्र शब्द का निरुक्ति करते हुए दश प्राणों तथा ग्यारहवें आत्मा को रुद्र कहा है।

दशेमे पुरुषे प्राणा इति होवाच। आत्मैकादशः।
ते यदोत्क्रामन्तो यन्त्यथरोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति।[1]

अर्थात् पुरुष में दसों प्राण जिनका उल्लेख ऊपर किया चुका है। तथा ग्यारहवाँ आत्मा। ये ग्यारह इसलिए रुद्र कहलाते हैं, क्योंकि जब शरीर से निकलते हैं तो रुलाते हैं।[2]

जैमिनीय उपनिषद् में भी प्राणों की संज्ञा रुद्र कही गई है। प्राण ही सबको रुलाते है, ऐसी निरुक्ति की है।[3]

निरुक्त में रुद्र शब्द की निरुक्ति निम्न प्रकार प्राप्त होती है।

रुद्रो रौतीति सतः। रोरूयमाणो द्रवतीति वा। रोदयतेर्वा।
यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् काठकम्। यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् 'हारिद्रविकम्'।[4]

आचार्य यास्क ने 'रुद्र' शब्द की ये पाँच निरुक्तियाँ की है। जिनमें तीन उनकी अपनी हैं। शेष दो में से एक काठक ऋषि की है, और एक हारिद्रव ऋषि की है।

---

1 कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादशास्ते यदस्मान् मर्त्याच्छरीरादुत्क्रान्त्यथ रोदयन्ति।
2 जै. ब्रा. 2/77
3 प्राणो वै रुद्राः प्राणो हीदं सर्वं रोदयन्ति। जै. उप. 4/2/6
4 निरु. 10/5

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

1. रुद्रो रौति इति सतः। अर्थात् जो शब्द करता है, वह रुद्र है।

2. रोरूयमाणो द्रवति इति। अर्थात् शब्द करता हुआ वहता है, या चलता है, वह रुद्र है।

3. रोदयतेर्वा। अर्थात् जो रुलाता है, वह रुद्र है। जो (दुष्टों को) रुलाता है, अथवा अन्तकाल में सबको रुलाता है, वह रुद्र है।

4. काठक ऋषि का मत है कि –जो रोया वही रुद्र का रुद्रत्व है।

5. हारिद्रवों का भी यही मत है–जो वह रोया यही उसका रुद्रत्व है

एक कथा के माध्यम से रोने से रुद्रत्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है–

कभी देवासुर संग्राम में अग्नि–स्वरूप रुद्र, देवों द्वारा छिपाए हुए धन को हरकर निकल गया। असुरों को जीतकर देवताओं ने रुद्र को खोजकर उससे धन वापस ले लिया। तब वह रोया, तब से वह रुद्र हुआ। यह काठक तथा हरिद्रवों का मत है।

सायणाचार्य ने ऋग्वेद के रुद्रसूक्त के भाष्य में रुद्र शब्द की कतिपय निरुक्तियाँ इस प्रकार प्रस्तुत की हैं–

1. रोदयति सर्वमन्तकाल इति रुद्र जो सबको अन्तकाल में रुलाता है, अर्थात् जो सबकी प्रलय का कारण है, वह रुद्र है। अथवा

2. 'रुत' संसाराख्यं दुःखम्। तद् द्रावयति अपगमयति विनाशयति इति रुद्रः। रुत सांसारिक दुःख (रोग) को कहते हैं, उसको जो दूर करता है, उसे रुद्र कहते हैं। अथवा

3. रुतः शब्दरूपाः उपनिषदः।[1] ताभिर्द्रूयते गम्यते प्रतिपद्यते इति रुद्रः। अर्थात् रुत शब्दरूपउपनिषद्–वाणी को कहते हैं, उस ब्रह्मज्ञान–रुप वाणी को जो प्राप्त कराता है, उसे रुद्र कहते हैं।

4. रुत शब्दात्मिका वाणी तत्प्रतिपाद्या आत्मविद्या वा। तामुपासकेभ्यो राति ददाति इति रुद्रः। रुत शब्दरुपा वाणी अथवा वाणी से प्रतिपादित आत्मविद्या है। उस आत्मविद्या को जो उपासकों को देता है, वह रुद्र है।

अथवा

5. रुणद्धि आवृणोति इति रुदन्धकारादि। तद्दृणाति विदारयति इति रुद्रः रुत् अन्धकारादि अज्ञान है, जो ज्ञान के प्रकाश को रोकता या ढक लेता है, उस अन्धकार को जो विदीर्ण करता है, वह रुद्र है।

---

1 ऋग्वेद सायण भाष्य 1/114/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

6. **यत् अरुदत् अथवा अरोदीत् स रुद्रः** जो रोया वह रुद्र है। इस निरुक्ति की कथा काठक व हारिद्रव के निर्वचन प्रकरण में आ चुकी है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने भी भिन्न-भिन्न मन्त्रों में इन्ही निरुक्तियों को प्रकारान्तर से प्रयुक्त किया है।

1. **ये रोदयन्ति अन्यायकारिणो जनांस्तत्सम्बुद्धौ** [1] अर्थात् जो अन्याय कारियों को रुलाते हैं, वे रुद्र होते हैं।
2. **दुष्टरोदनकारकाश्चतुश्चत्वारिंद्वर्षकृतब्रह्मचर्यविद्या**[2] अर्थात् जो चवालीस सालों तक ब्रह्मचर्य का पालन कर, उस ब्रह्मचर्य की शक्ति से दुष्टों को रुलाने में समर्थ है, वह रुद्र है।
3. **शत्रूणां रोदयितुर्महावीरस्य** [3] जो शत्रुओं को रुलाने वाला महावीर है, वह रुद्र है।
4. **दुष्टान् रोदयद्भिः 'प्राणैरिव वीरैः** [4] प्राणों के समान (दुष्टों को) रुलाते हुए वीरों के सदृश रुद्र है।
5. **रुतः सत्योपदेशान् राति ददाति तत्सम्बुद्धौ** [5] रुतः सत्योपदेशरूपवाणी को जो प्रदान करता है, वह रुद्र है।

इसी प्रकार अन्य अनेक मन्त्रों में रुदिर रोदने अश्रुविमोचने अर्थ वाली धातु से सम्बन्धित एवं 'रु' शब्दे अर्थ वाली धातुओं से सम्बन्धित निर्वचन प्राप्त होते हैं।

1. उणादिकोष में रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ दोनों का निर्धारण हुआ है। 'रुद्र' शब्द रुदिर अश्रुविमोचने धातु से औणादिक "रोदेर्णिलुक्च" सूत्र से रक् प्रत्यय तथा णिलोप होकर रुद्र शब्द सिद्ध होता है।
2. रुत् (रोग) द्रु गतौ धातु से डः प्रत्यय लगकर भी रुद्र शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है 'रोगों का विनाशक'।
3. रु शब्दे धातु से क्विप् प्रत्यय तथा तुगागम होकर तथा रुत्+रा दाने

1 ऋ. 1/39/4
2 ऋ. 1/39/7
3 ऋ. 1/85/1
4 ऋ. 1/100/5
5 ऋ. 1/114/2

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

धातु से कः प्रत्यय लगकर शब्द (वाणी) की शक्ति का देने वाला आदि अर्थ होते हैं, इन अर्थों के प्रयोग भी हमें वेद में प्राप्त होते हैं।

❖ दुष्टान् शत्रून् रोदयितः।[1]

❖ यो रुत् रोगं द्रावयति तम्।[2]

❖ पापफलदानेन पापिनां रोदयितारं पापफलभोगेन रोदकं जीवं वा।[3]

उणादिकोष की दयानन्दवृत्ति में रुद्र शब्द के तीन अर्थ दिए हैं। ईश्वर, प्राण-अपानादि दश रुद्र तथा जीवात्मा (एकादशरुद्र)।[4]

बारह आदित्यों का विवेचन

तैंतीस देवताओं में आठ वसुओं तथा ग्यारह रुद्रों का विवेचन किया चुका है। इस प्रकरण में 12 आदित्यों का विश्लेषण प्रस्तुत है।

शतपथ ब्राह्मण में बारह महीनों को बारह आदित्य कहा गया है, क्योंकि इन बारह महीनों अर्थात् सम्वत्सर से हम सब कुछ प्राप्त करते है, अतः ये आदित्य कहे जाते हैं।[5] जैमिनीय ब्राह्मण में भी सम्वत्सर के बारह-मासों को आदित्य कहा गया है।[6] निरुक्त-कार ने आदित्य के चार निर्वचन किए हैं।

1. आदत्ते रसान्
2. आदत्ते भासम् ज्योतिषाम्।
3. आदीप्तो भासेति वा।
4. अदितेः पुत्र इति वा।[7]

1. जो रसों (जलों) का आग्रहण करता है। यहाँ आदित्य सूर्य का वाचक है, क्योंकि सूर्य समुद्र, नदी तथा जलाशयों से जलों को खींच लेता है। इस निर्वचन में आ+दा दाने धातु से आदित्य शब्द निष्पन्न माना गया है।

---

1 ऋ. 01/114/2
2 ऋ. 04/49/10
3 ऋ 07/41/1
4 पापिनो रोदयतीति रुद्रः ईश्वरः। प्राणादि दशरुद्रा जीवो वा। उणादि कोष 2/22
5 कतम आदित्या इति, द्वादश मासाः सम्वत्सर इति होवाय। एत आदित्या एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति, ते यदि सर्वमाददाना यन्ति, तस्माद् आदित्या इति आ+दा+इण-आदित्य। श. प. ब्रा. 11/6/3/8
6 जै. ब्रा. 2/77
7 नि. 3/13

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

2. दूसरे निर्वचन में प्रकाशमान नक्षत्रों से ज्योतियों का आग्रहण करता है। आदित्य (सूर्य) के प्रकाश में सभी प्रकाशयुक्त नक्षत्रों की चमक फीकी पड़ जाती है अर्थात् उन्हें अभिभूत कर देता है।
3. तृतीय निर्वचन का अभिप्राय है कि आदित्य अपने प्रकाश से स्वयं भासता है। इस निवर्चन में आ+दीप् धातु का अर्थ प्रतिपादित हुआ है।
4. चौथे निर्वचन में आदित्य को अदिति का पुत्र कहा है। इस निर्वचन में आ+दो अवखण्डने अथवा आ+दीङ्क्षये धात्वर्थ अभिप्रेत हैं। यहाँ अक्षीण को अखण्डित रहने वाला आदित्य कहा गया है।
तै. ब्रा. में भी अदिति से आदित्य पद की निरुक्ति है–

तं यदस्याः (अदितेः) अध्यजनयत् तस्मादादित्यः।[1]

ऐतरेय ब्राह्मण में 'अदीदेत्' क्रियापद से आदित्य शब्द की निरुक्ति की गई है–

यत्तृतीयमदीदेदिव त आदित्या अभवन्।[2]

अर्थात् जो (प्रजापति से) तीसरी वार चमके वे आदित्य हुए। जैमिनीय ब्राह्मण में आदित्य शब्द की निरुक्ति इन शब्दों में प्राप्त होती है–

यद् यद् एतेषां भूतानामादत्त तद् आदित्यस्य आदित्यत्वम्।[3]

अर्थात् जो जो इन प्राणियों को प्राप्त हुआ, वही आदित्य का आदित्यत्व है।

ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के तीसरे मन्त्र में आदित्यों को अदिति की ज्योति को चाहने वाला कहा है–

को देवानामभवो अद्य वृणीते क आदित्यां अदितिं ज्योतिरीट्टे।।[4]

अर्थात् कौन आज देवताओं की रक्षा के लिए वरण करता है? कौन आदित्यों की अदिति (ज्योति) को चाहता है। अर्थात् अदिति से उत्पन्न आदित्यरूप ज्योति (प्रकाश) को कौन चाहता है। प्रो. डॉ. वीरेन्द्र कुमार अलङ्कार ने गोपथ निर्वचन-विज्ञान में अदिति का अर्थ परमात्मशक्ति

1 तै. ब्रा. 1/5/10/1
2 ऐ. ब्रा. 13/10
3 जै. ब्रा. 2/26
4 ऋ. 4/25/3

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

किया है। उनके मत में परमात्मा से उत्पन्न पदार्थ आदित्य कहलाते हैं, क्योंकि सभी पदार्थ तो परमात्मा से उत्पन्न होते हैं।[1] वही सबकी उत्पत्ति का निमित्त कारण है। कतिपय विद्वानों ने अदिति का अर्थ प्रकृति भी किया है, और प्रकृति से उत्पन्न पदार्थ सूर्य आदि आदित्य कहलायेंगे। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में प्राणों को आदित्य कहा गया है, क्योंकि प्राणों से सब कुछ होता है, अतः 'प्राण' आदित्य कहलाते हैं।

प्राणा वा आदित्याः। प्राणा हींद सर्वमादत्ते।[2]

ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के नवें मण्डल के नवें मन्त्र में देवताओं की संख्या तीन हजार तीन सौ उन्तालीस का उल्लेख भी प्राप्त होता है–

त्रीणि शता त्री सहस्राणि अग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासर्पयन्।
औक्षन्घृतैस्तृण न वर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त।।[3]

अर्थात् तीन हजार तीन सौ उन्तालीस देवता अग्नि की ओर गये, उन देवताओं ने घृत से अग्नि को सींचा अर्थात् अभिवृद्ध किया तथा इसके वृद्धिशील होता को स्थापित किया। यहाँ तीनहजार तीनसौ उन्तालीस देवता कौन से हैं? इसका स्पष्ट व्याख्यान नहीं है। अतः सभी भाष्यकारों ने अपने-अपने ढंग से चिन्तन प्रस्तुत किया है, परन्तु यह तो निश्चित है, कि यह प्रकृति दिव्यशक्तियों, या दिव्यसूर्य, पृथिवी आदि देवता अग्नि से अभिवृद्ध होकर प्राणियों की (होताओं की) समृद्धि के कारक हैं। इस मन्त्र का देवता अग्नि है, अतः 3339 देवता अग्नि से गतिमान् हैं। कतिपय विद्वानों ने तेजस्वी वीर पुरुषों को देवाः का विशेषण माना है। अस्तु, देवों की उक्त संख्या का यथार्थ विश्लेषण अनुसन्धेय है।

देवों की संख्या के विषय में यास्कीय चिन्तन तथा त्रिधा विभाजन

आचार्य यास्क ने निरुक्त के दैवतकाण्ड में वेद के देवताओं का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उन्होंने देवताओं को तीन भागों में

1 गो. नि. वि. पृ. 106
2 जै. उ. ब्रा. 4/2/19
3 ऋ. 3/9/9

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

विभक्त किया है। सभी देवताओं को स्थान भेद से तीन भागों में ही समाविष्ट कर दिया है। **तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवी स्थानः। वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः।**[1] अर्थात् नैरुक्तों के मत में तीन ही देवता हैं।

1. पृथिवीस्थानीय अग्नि।
2. अन्तरिक्षस्थानीय वायु अथवा इन्द्र।
3. द्युस्थानीय-सूर्य।

अन्य सभी देवताओं को इनका सहयोगी अथवा इससे ही सम्बद्ध माना है। विभिन्न कार्य व गुणों के आधार पर इन्हीं तीन देवताओं की अन्य अनेक नामों से स्तुति की गई है। जैसे एक यज्ञ के कर्ता को कार्य भेद से कभी उद्गाता, कभी अध्वर्यु और कभी ब्रह्मा के नाम से पुकारा जाता है।[2] वृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी आदि देवशास्त्रीय ग्रन्थों में गुण कर्मादि के आधार पर देवताओं के अनेक नामों का उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ एक ही अग्नि, कार्य और स्थान भेद से अलग-अलग नामों से जाना जाता है।

इहैष पवमानोऽग्निर् मध्यमोऽग्निर्वनस्पतिः।
अमुष्मिन्नेव विप्रस्तु लोकेऽग्नि शुचिरुच्यते।।[3]

अर्थात् पुरोहित या विद्वान्गण इस अग्नि को पृथिवी पर अग्नि या पवमान, मध्यक्षेत्र में अग्निवनस्पति तथा दिव्यलोक में शुचि के नाम से पुकारते हैं।

इहाग्निभूतस्त्वृषिभिर् लोके स्तुतिभिरीडितः।
जातवेदास्तुतोमध्ये स्तुतो वैश्वानरो दिवि।।[4]

अर्थात् ऋषिगण इस लोक में (पृथिवी पर) अग्नि के रूप में, मध्यलोक में 'जातवेदस् के रूप में तथा द्युलोक में 'वैश्वानर' के रूप में (देवताओं का) स्तवन करते हैं।

---

1 नि. 7/5
2 तासां महाभाग्यादेकेकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति । अपि वा कर्म पृथकत्वात्। यथा. होताऽध्वर्युब्रह्मोद्गाता इत्यपि एकस्य सतः। नि. 7/5
3 वृहद्दे. 1/66
4 वृहद्दे. 1/67

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

जैसे पृथिवीस्थानीय अग्नि के अग्रणी, जातवेदस् तथा वैश्वानर आदि नाम प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार अन्तरिक्षस्थानीय देवता इन्द्र के मघवा हरिकेश, वृत्रहा, शक्र, सोमपा, वज्री आदि नाम प्रसिद्ध हैं। द्युस्थानीय सूर्य के वरुण, मित्र, अर्यमा, सविता, पूषन्, उषस्, आदित्य आदि नाम प्रसिद्ध हैं।[1]

वस्तुतः आचार्य यास्क ने तथा आचार्य शौनक ने त्रिस्थानगत देवों में सब देवों का समाहार वेद की भावना के अनुरुप ही किया है। ऋग्वेद में देवों के स्थानगत त्रिधा विभाजन निम्न मन्त्रों के आधार पर ही किया है, जिनका उल्लेख 33 देवों के प्रकरण में भी किया जा चुका है–

ये देवा दिविष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्षे।[2]

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदः ये चेमे भूम्यामधि।[3]

इन दोनों ही मन्त्रों में देवों के पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय तथा द्युस्थानीय होने का उल्लेख है। यद्यपि वेद में 33 देवताओं या त्रिस्थानगत द्यु, अन्तरिक्ष और पृथिवीस्थानीय देवों का स्पष्ट उल्लेख है, साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ये देवता उस एक परमात्मदेव की ही विविध शक्तियाँ हैं। वह एक ही आत्म–तत्व के अनेक रुप हैं। उदाहरण–

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुवर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।[4]

अर्थात् विद्वान् लोगों ने उस एक सत् स्वरुप परब्रह्म को इन्द्र, मित्र अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम तथा मातरिश्वा नाम से पुकारा (कहा) है।

रूपं रूपं मघवा वोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परिस्वाम्।
त्रिर्यदिद्वः परिमुहूर्त्तमगात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा।।[5]

अर्थात् मघवा – इन्द्र परमेश्वर अथवा सूर्य, स्वां तन्वं–अपने विस्तार को, माया कृण्वानः– अद्भुत करता हुआ, रुपं रुपं परिवोभवीति–अनेकरूपों में व्याप लेता है, स्वैः मन्त्रैः–अपने रहस्य मय ज्ञान से अथवा अपनी

1 वृहद्दे. 1/70–71 तथा सर्वानुक्र 2/12
2 अथर्व. 1/30/3
3 अथर्व. 10/9/12
4 ऋ. 1/164/46
5 ऋ. 3/53/8

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

किरणों से त्रिदिवः- दिन के भागों में प्रातः मध्य व सायं काल में, मुहूर्तम्-क्षणों में विभक्त कर लेता है। वह सूर्य अथवा परमेश्वर ऋतावा-ऋत से युक्त अर्थात् सत्य स्वरुप अथवा अन्न जल का स्वामी होकर, अनृतुपाः ऋतुओं का पान न करता हुआ अर्थात् ऋतुओं के बन्धन से मुक्त रहता है।

जैसे एक सूर्य अपनी किरणों से अनेक रूप होता है, उसी प्रकार वह एक ब्रह्म अपनी अनन्त शक्ति से बहुतरूप होता है। कठोपनिषद् पञ्चम वल्ली में और सरल शब्दों में एकात्मा की बहुरूपंता का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। जो लगभग ऋग्वेद के इसी मन्त्र की सरल व्यांख्या है-

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव।।[1]

अर्थात् जैसे अग्नि प्रत्येक वस्तु के भीतर वर्तमान है, फिर भी उसने स्वयं को प्रत्येक रूप के अनुरूप बना लिया है उसी प्रकार सब प्राणियों का अन्तरात्मा (परबह्म) एक होने पर भी अनेक रुपों में दृष्टिगत हुआ है।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।।[2]

वह एक ब्रह्म ही सबको वश में रखने वाला अर्थात् सबका नियन्ता है। वह एक रूप ही सबको अनके रूप करने वाला है। जो धीर पुरुष उस आत्मस्थ परमेश्वर को देख पाते हैं, उन्हें ही शाश्वत सुख और शान्ति प्राप्त होती है, दूसरों को नहीं।

ऋग्वेद में इस आशय के और भी मन्त्र प्राप्त होते हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है-

सुपर्ण विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश।।[3]

1 कठो. पं. 5/9
2 कठो. 5/12
3 ऋ. 10/114/05

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

विप्राः कवयः-ज्ञानी विद्वान् सुपर्ण-उस परमेश्वर को एक होते हुए भी नाना प्रकार से कल्पित करते हैं। जैसे यज्ञों में एक भाव के मन्त्रों का तथा एक ही सोम की अनेक पात्रों में कल्पना की जाती है। परमात्मदेव यानी एक-देव में सब देवों की एकरूपता के चिन्तन के बाद अब क्रमशः पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय एवं द्युस्थानीय देवों के स्वरुप की विवेचना उपस्थित है।

देवशास्त्रीय ग्रन्थों में देवों का अष्टधाविभाजन

यद्यपि वैदिकदेवशास्त्र में वैदिक देवताओं को आठ भागों में बाँटा गया है, तथापि सभी प्रमुख देवों को तो द्युस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय एवं पृथिवीस्थानीय देवों में परिगणित कर लिया है। जिनकी गणना इस वर्गीकरण में प्राप्त नहीं होती उनके कतिपय पृथक् वर्ग निर्धारित किए हैं-

1. पृथ्वीस्थानीय देवता- अग्नि, सोम, नदी, पथिवी, बृहस्पति आदि।
2. अन्तरिक्षस्थानीयदेवता- वायु, इन्द्र, पर्जन्य, आपः, त्रित अपांनपात्, मातरिस्वन्, अहिर्बुध्न्य, रुद्र, मरुद्‌गण आदि।
3. द्युस्थानीयदेवता- द्यौः, सूर्य, मित्र, वरुण, सविता, पूषन्, विष्णु, विवस्वत्,आदित्यगण, उषस्, आदि।
4. अमूर्तदेवता- त्वष्टा, विश्वकर्मा, प्रजापति, मन्यु, श्रद्धा, अदिति, दिति।
5. देवियाँ- उषा (उषस्) वाक्, रात्रि, सरस्वती, इडा मही।
6. युगल देव- इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ, इन्द्राविष्णु, अग्निषोमौ, द्यावापृथिवी, अश्विनौ।
7. देवगण - रुद्राः, वसवः, आदित्याः, विश्वेदेवाः।
8. अवरदेवता- ऋभुगण, अप्सरस्, गन्धर्व, रक्षक देवता।[1]

आचार्य यास्क देवताओं को आधिभौतिक तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। इन देवों को वे कार्य, स्थान आदि के भेद से अनेक रूपों में मानते हैं। कार्यो की पृथक्ता के कारण ही वे अग्नि, जातवेदस् तथा वैश्वानर आदि नामों से जाने जाते है।[2] जहाँ कहीं भी समान कार्य एवं

1 वैदिक माइथोलॉजी (हिन्दी) चौखम्बा संस्करण पृ. 1961
2 एकस्यात्मनाऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। अपि च नि. 7/4

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गुणों के कारण दूसरे सहचारी देवता में लक्षण होने का सन्देह हो, तो वहाँ तीन बातों पर ध्यान देकर देवता का निर्णय करना चाहिए।[1]

1. प्रत्येक देवता का मुख्य चरित्र निर्धारित करके कुछ अन्य गौण बातें तय की जाएँ।
2. स्तुति के गौण-प्रधान भाव के आधार पर देवता की गौणता या प्रध ानता का निश्चय किया जाय।
3. देवता के विषय में अत्युक्ति या अतिस्तुति को देवता के प्रति (भक्ति) श्रद्धा का अतिरेक समझना चाहिए।[2]

देवताओं के अंग, शस्त्र और वाहन एक विश्लेषण

वेद के मन्त्रों में देवताओं के अङ्ग-प्रत्यङ्गों, उनके शास्त्रों और वाहनों का वर्णन प्राप्त होता है, जिससे यह लगता है कि ये कोई शरीरधारी जीव हैं। जिन मन्त्रों में देवताओं के अङ्गों का वर्णन है, इसके कतिपय उदाहरण प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत हैं।

देवताओं के अङ्ग

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।[3]

अर्थात् वह पुरुषदेव, हजारों शिरोंवाला, हजारों आखोंवाला तथा हजारों पैरोंवाला है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोवाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं वाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।।[4]

अर्थात् उस (परमेश्वर के) सब ओर चक्षु हैं, सब ओर मुख हैं, सब ओर बाहुएँ हैं, सब ओर पैर हैं। वह अपनी बाहुओं से सबकी रक्षा करता है, तथा उसने अकेले ही अपनी शक्तियों से द्युलोक और पृथ्वीलोक को उत्पन्न किया।

---

1 वैदिक वाङ्मय में भाषा चिन्तन। पृ. 79
2 वैदिक वाङ्मय में भाषा चिन्तन। नि. 13/1
3 ऋ. 1/22/5
4 ऋ. 10/81/3

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

मध्वः सुजिह्व पायय।।[1]

अर्थात् हे सुन्दर जिह्वावाले अग्निदेव! मधु का पान करा।

हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुपह्वये।[2]

(मैं) सुनहरे हाथों वाले सविता को पुकारता हूँ।

देवों के शस्त्र

जिस प्रकार देवताओं के अङ्गो के आलंकारिक वर्णन के कतिपय प्रमाण दिए हैं। इसी प्रकार देवताओं के शस्त्रों का भी वर्णन वेदों में प्राप्त होता है।

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।[3]

अर्थात् में वज्र को धारण करने वाले वज्री इन्द्र के पराक्रमों को कहता हूँ, जो उसने पहले करके दिखाए हैं।

अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन।
स्कन्धांसीव कुलिसेनाविवृक्णाऽहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः।।[4]

उस इन्द्र ने गहन आवरण से ढक देने वाले वृत्र को (गहन अन्धकार वाले बादलों को) कठोर वज्र से छिन्न भिन्न कर डाला अर्थात् सूर्य ने अपनी किरणोंरूपी तीखे वज्र से बादलरूपी वृत्र को नष्ट कर दिया।

इन दोनों मन्त्रों में इन्द्र के अस्त्र वज्र का उल्लेख है, जिसका संक्षिप्त विश्लेषण ऊपर दिए अर्थ में किया है। इस प्रकार के अन्य देवताओं के शास्त्रों का आलङ्कारिक वर्णन वेदों में प्राप्त होता है।

विभ्रद्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्तनिर्णिजम्।
परि स्पशो निषेदिरे।[5]

जैसे वरुण अर्थात् सूर्य ने हिरण्मय सोने के समान चमकते हुए कवच को धारण किया हुआ है, तथा अपनी किरणों को चारों ओर

1 ऋ 1/14/7
2 ऋ. 1/22/5
3 ऋ. 10/32/1
4 ऋ. 1/32/05
5 ऋ. 1/25/13

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

विकीर्ण कर रहा है, उसी प्रकार मनुष्य प्रकाशवान् ज्ञान के कवच को धारण कर ज्ञान का प्रकाश फैलाए।

देवों के वाहन

वस्तुतः देवों के वाहन की कल्पना देवों की गति की तीव्रता को संकेतित करती हैं। वेद में कहीं रथ, कहीं अश्व, कहीं रभस, कहीं रोहिताश्व आदि वाहनों का वर्णन मिलता है, परन्तु सभी वाहन गति के वाचक हैं। कहीं कहीं दैवीनाव का वर्णन आता है, जिसकी तुलना मानव शरीर से की गई है। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में घोड़ों से युक्त रथ का वर्णन देखिए–

आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये।[1]

(हिरण्यये रथे) स्वर्ण के रथ में युक्त जुड़े हुए (केषिनः हरयः) अयाल वाले घोड़े, (सोमपीतये) सोम पान के लिए (इन्द्र ब्रह्मयुजा त्वां) हे ब्रह्मयुजा इन्द्र! धनधान्य से परिपूर्ण इन्द्र तुझको, (शतं सहस्रमा वहन्तु) सेकड़ों और हजारों मील तुम्हें धारण करते हैं, पहुँचाते हैं।

आत्वा रथे हिरण्ये हरी मयूरशेप्या।
शितिपृष्ठा वहतां मध्वो अन्धसो विचक्षणस्य पीतये ।।[2]

स्वर्ण युक्त रथ में मोर के मुकुट के समान शिर पर सुन्दरता को धारण किए श्वेतपीठ वाले जुते हुए घोड़े, विचक्षणस्य पीतये –ज्ञान के पान के लिए तुम्हें धारण करते है, अर्थात् ले जाते हैं।

इन दोनों मन्त्रों का देवता इन्द्र है। सुन्दर घोड़ों से युक्त स्वर्णरथ इन्द्र का वाहन है। यहाँ इन्द्र सूर्य को कहा गया है, किरणें उस के स्वर्णमय रथ के अश्व हैं। क्योंकि गतिकान्त्यर्थक हर्य धातु से हरि शब्द बना है, जिसका अर्थ है स्वर्ण के समान चमकता हुआ तथा शीघ्रगामी। दूसरे भौतिक पक्ष में राजा या सेनापति इन्द्र का अर्थ करने पर चमकदार रथ में जुते घोड़ो के अर्थ का विनियोग होगा।

1 ऋ. 08/1/24
2 ऋ. 8/1/25

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

सुत्रामार्णं पृथिवी द्यामुनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये।।[1]

इस मन्त्र में जीवन के कल्याण के लिए प्रभु प्रदत्त दैवी नाव पर चढ़ने का आदेश दिया गया है। वह दैवी नाव पार लगाने वाली है, अति विस्तृत स्वभाव वाली है, प्रकाश युक्त है, दोष रहित है, सुख देने वाली है, अखण्डनीय है, अर्थात् जल्दी न टूटने वाली है, सुन्दर रीति से रचित है, ऐसी इस मानव–शरीररूपी नाव पर जीवन के कल्याण के लिए चढ़। इस मन्त्र का देवता विश्वेदेवा है। विश्वेदेवा अर्थात् सर्वदेवतारूप परमेश्वर वही सबके कल्याण का हेतु है।

यद्यपि पिछले मन्त्रों मे वेद में देवताओं के अङ्गों, शास्त्रों और वाहनों के प्रमाण प्रस्तुत किए हैं परन्तु जब ये वेद के देवता प्रकृति के पदार्थ हैं, तो इनके अङ्गादि होने का वेद में क्या अभिप्राय है? इसके उत्तर में मैक्समूलर का कथन बड़ा सटीक है। मैक्समूलर कहते हैं कि "यदि वशिष्ठ, विश्वामित्र या अन्य ऋषि आज होते तो उनसे हम पूछ पाते कि क्या तुम सचमुच यह मानते हो कि यह सुनहरा तेज का गोला कोई मनुष्य जैसा शरीरधारी है, जिसके हाथ पैर हैं, हृदय है, तो ऋषि निश्चय ही हँस पड़ते और हमें कहते कि तुम केवल हमारी भाषा को समझ पाए हो, भाव को नहीं समझ पाए।"

अभिप्राय यह है कि प्राकृतिक पदार्थों के हाथ पैर आदि अङ्गों का वर्णन आलङ्कारिक है। वेद प्राकृतिक पदार्थों के अङ्गों का वर्णन करता है, इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह (वेद) उन्हें कोई शरीर धारी चेतन मानता है। ज्वालाएँ ही अग्नि का जिह्वा या मुख है। सूर्य की किरणें ही सूर्य की बाहुएँ हैं। इसी प्रकार अन्य देवों के विषय मे समझना चाहिए। जैसे अङ्गों का वर्णन आलङ्कारिक है, वैसे ही उनके वाहन आदि के वर्णन को भी आलङ्कारिक रूप में लेना चाहिए।[2]

1 ऋ. 10/63/10

2 आर्ष ज्योति पं. रामनाथ वेदाङ्कार समर्पण शोध संस्थान साहित्ववाद प्रकाश. 1995

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

पञ्चम अध्याय
पृथिवीस्थानीय प्रमुख देवगण

यद्यपि इस ग्रन्थ में कई आचार्यों का मत देवताओं के विभाजन में प्रस्तुत किया गया है। पुनश्च सभी देवताओं का विस्तृत विवेचन वेद के क्रम या आचार्य यास्क के क्रम में करेंगे। जिन देवताओं का विवेचन पृथिवी स्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय या द्युस्थानीय देवों में न हो सकेगा उनका विश्लेषण भी अतिरिक्त देवों के प्रकरण में अवश्य किया जाएगा। मेरा प्रयास होगा कि वेद के सभी प्रमुख देवों का विवेचन सुधी पाठक-गणों को इस ग्रन्थ के माध्यम से प्रस्तुत कर सकूँ।

पृथिवीस्थानीय प्रमुख देवगण

महर्षि यास्क ने पृथिवीस्थानीय देवों में प्रमुख 'अग्नि' को माना है। यद्यपि अन्य आचार्यों ने पृथिवी, नदी, बृहस्पति, सोम, वृक्ष आदि को भी पृथिवीस्थानीय देवों में गिना है। अग्नि के साथ वैश्वानर और जातवेदस् भी पृथिवीस्थानीय देवों में प्रमुखतया परिगणित हैं।

अग्नि

पृथिवीस्थानीय देवों में अग्नि प्रमुख देव है। निरुक्तकार आचार्य यास्क और आचार्य शौनक दोनों का यही मत है।

अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुर्वेन्द्रोवाऽन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः।[1]

अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास् तिस्र एवेह देवताः।।[2]

1 निरुक्त 7/5
2 वृह. 1/69

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

इस (पृथिवी) लोक में अग्नि, मध्य (अन्तरिक्ष) लोक में इन्द्र और वायु तथा द्युलोक में सूर्य इन तीन को ही त्रिस्थानीय देव जानना चाहिए।

ऋग्वेद में अग्नि की सर्वप्रथम स्तुति की गई है। कदाचित् इसीलिए निरुक्तकार ने अग्नि की सर्वप्रथम निरुक्ति में अग्नि को अग्रणी कहा है।

अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवति अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते।[1]

अर्थात् अग्नि किस कारण से अग्नि कहलाता है? अग्रणी होने से अग्नि को अग्नि कहा जाता है। वैसे अग्रणी का अर्थ है- प्रमुख। अग्नि सभी देवताओं में प्रमुख है। इसके उदहारण के रूप में निरुक्तकार ने यज्ञों में प्रमुख भूमिका अग्नि की कही है। अग्र+नी- 'अग्नि' अग्रे नीयते यः सः अग्निः'। अर्थात् अग्नि में डाली गई आहुति को अग्नि ही वायु के माध्यम से सूक्ष्म कर आगे ले जाता है।

ऋग्वेद में स्वयं अग्नि को सब देवताओं का अग्रणी कहा है-

अग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः।[2]

एक और स्थान पर ऋग्वेद में अग्नि को पृथ्वी का नेता एवं सुखैश्वर्य का दाता बताया है।

अग्निर्नेता भग इव क्षितीनाम्।[3]

ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल में अग्नि को सबका हितकारी एवं घर घर में विजय को प्रदान करने वाला कहा है।

जनिष्ट हि जेन्यो अग्रे अह्नां हितो हितेषु अरुषो वनेषु।
दमे दमे सप्त रत्ना दधानोऽग्निर्होता निषसादा यजीयान्।।[4]

अर्थात् (वह) अग्नि (सूर्य) दिन के अग्र भाग में (पूर्वाह्न में) हितों को धारण करता हुआ तथा अपनी किरणों से वनों में प्रकाश फैलाता हुआ, प्रत्येक घर में सतरंगी किरणों से सप्तरत्नों को धारण करता हुआ, उत्पन्न हुआ।

---

1 नि. 7/91/14
2 ऋ. 10/110/11
3 ऋ. 3/20/4
4 ऋ. 5/1/5

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

'अग्नि' शब्द अगि गतौ धातु से (अङ्गेर्नलोपश्च)[1] अथवा अगि गतौ इस औणादिक सूत्र से 'नि' प्रत्यय तथा नकार का लोप होकर णी प्रापणे धातु से भी अग्नि शब्द निष्पन्न होगा। निरुक्ति इस प्रकार वनेगी– **'स्वगतिना सर्वान् पदार्थान् नयति यः सोऽग्निः।** स्वामी दयानन्द इस सूत्र की वृत्ति में लिखते है– **"अंगति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा सोऽग्निः बह्निः प्रसिद्धो वा।"**

त्रिस्थानीय अग्नि के तीन रूप माने गए हैं। दक्षिणाग्नि, आहवनीय अग्नि एवं गार्हपत्यअग्नि। पिण्ड में इन्ही अग्नियों को मन, प्राण और वाक् कहा गया है। उपनिषद् में इसीलिए कहा गया है कि **'अग्निः वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्'**[2]। वास्तव में अग्नि सभी देवताओं का मुख है, इसीलिए सभी देवताओं को दी जाने वाली आहुति अग्नि में दी जाती है।

छान्दोग्य उपनिषद् में दक्षिणाग्नि को अन्वाहार्यपचनाग्नि भी कहा गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् में ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद को त्रयीविद्या कहा है। तथा पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक का रसरूप सार कहा है। तीनों वेदों का सार रूप 'भूः भुवः, स्वः' है। गार्हपत्याग्नि में 'भूः' कहकर आहुति देनी चाहिए। 'भुवः' कहकर दक्षिणाग्नि में आहुति देनी चाहिए तथा 'स्वः' कहकर आहवनीय अग्नि में आहुति देनी चाहिए।[3] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अग्नि शब्द को भौतिकार्थ में पार्थिव अग्नि राजा, सेनापति तथा आध्यात्मिक दृष्टि से परमेश्वर, आत्मा, ज्ञान तथा प्रकाश का वाचक माना है। स्वामी जी के इन अर्थों के पीछे निरुक्तकार की अधः प्रदत्त निरुक्तियाँ है। अग्नि कस्मात्? **अग्रणीर्भवति– अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलष्ठीविः। न क्नोपयति न स्नेहयति। इतात् अक्ताद्दग्धाद्वा नीतात् वा।।**[4] हम पिछले प्रसङ्ग में 'अग्रणीर्भवति' का विवेचन कर चुके हैं। मुख्यभाव यही है कि अग्नि सब कार्यो की सिद्धि में आगे रहता है। जैसे सेनापति सेना को लेकर आगे बढ़ता है, उसी प्रकार अग्नि

1 उ. को. 4/51
2 उ. को. 4/51 (दया. वृत्ति)
3 छान्दोग्योपनिषद् चतुर्थ प्रपाठक द्रष्टव्य
4 नि. 7/4/14

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

सब देवों की हवि लेकर आगे बढ़ता है। दूसरी निरुक्ति है **'अङ्गं नयति सन्नममानः'** अर्थात् अग्नि तृण, काष्ठ आदि में जहाँ भी उपस्थित होता है, उसी पदार्थ को आत्मसात् कर लेता है, जलाकर आत्मरूप कर लेता है, अपने अधीन बना लेता है। इस निर्वचन में अङ्ग+नी- अग्नि। इस निरुक्ति की दुर्गाचार्य ने दो व्याख्याएँ की है,

1. जहाँ कहीं अग्नि साधन के रूप में प्रस्तुत होता है, वहाँ स्वयं प्रधान हो जाता है। तथा अन्य वस्तुओं को अपने अधीन कर लेता है, उन्हें गौण बना लेता है।

2. दूसरा भाव वही कि जहाँ तृण काष्ठ आदि में जहाँ कहीं भी अग्नि उपस्थित होता है, उसे भस्म कर आत्मसात् कर लेता है।

3. अक्नोपनो भवति-

निरुक्तकार ने यह निरुक्ति आचार्य स्थौलष्ठीवि की उद्धृत की है। गीला करने अर्थ वाली क्नूय् (प्) धातु से णिच् प्रत्यय लगकर क्नोपयति, न क्नोपयति इति अक्नोपयति अर्थात् जो सुखाता है, वह अक्नि या अग्नि है। स्थौलष्ठीवि ने स्नेहयति शब्द से व्याख्यात किया है, जल का गुण स्नेह है। न स्नेहयति अर्थात् जो गीला नहीं करता अर्थात् सुखाता है, वह अग्नि है।

4. इतात् अक्ताद्दग्धाद्वा नीतात् वा-

यह चौथी निरुक्ति भी आचार्य यास्क ने आचार्य शाकपूणि की उद्धृत की है। आचार्य शाकपूणि 'अग्नि' शब्द को चार धातुओं से निष्पन्न मानते हैं। अ+ √ इण् गतौ से, व्यक्ति-म्रक्षण-कान्ति गति अर्थ वाली √अञ्ज् धातु से, भस्मीकरणार्थक - √दह् धातु से तथा प्रापणार्थक √णी धातु से अग्नि शब्द का निर्वचन आचार्य शाकपूणि ने किया है, जो इसके चार अर्थो को अभिव्यक्त करता है। वस्तुतः अग्नि चार प्रकार के कार्य करता है।

1. अग्नि फैलाता है अर्थात् पदार्थ को विस्तृत कर देता है।
2. अग्नि प्रकाशित करता है।
3. अग्नि भस्म करता है या जला डालता है।
4. अग्नि देवताओं को हवि पहुँचाता है।

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

ये ही चारों भाव इतात्, अक्तात्, दग्धात् और नीतात् इन चारों निरुक्तियों में अभिव्यक्त हैं। अग्नि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त पुरोहित, ऋत्विक्, होता, हव्यवाट्, पावक आदि शब्द उपर्युक्त अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए ही वेद में प्रयुक्त हुए हैं–

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्
होतारं रत्नधातमम्।[1]

इस मन्त्र में अग्नि को पुरोहित, यज्ञ का देवता, ऋत्विज, होता तथा रत्नों को धारण करने बाला (धाता) आदि कहा है। उसी प्रकार ऋग्वेद प्रथम सूक्त के छठे मन्त्र में अग्नि को होता, कविक्रतु, अर्थात् ज्ञानपूर्वक कर्मों का कर्ता सत्यस्वरूप तथा विचित्र कीर्ति वालों में श्रष्ठ तथा दिव्यगुणों से युक्त कहा है।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरागमत्।।[2]

इन सभी मन्त्रों में अग्नि के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्ष ग्राष हैं।

जातवेद

जातवेद अग्नि का ही गौण नाम है। गौण का अभिप्राय है– गुणों पर आधारित। क्योंकि अग्नि प्रत्येक उत्पद्यमान पदार्थ में विद्यमान है। अतः उसका एक नाम जातवेद है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से जातवेदः शब्द जात वेदस् इन दो पदों का समस्त रूप है। जात शब्द जनी प्रादुर्भावे धातु से 'क्त' प्रत्यय लगकर बना है, जिसका धात्वर्थ है, उत्पन्न। वेदस् (वेदः) शब्द –विद् धातु का सुवन्त रुप है। विद् धातु व्याकरण शास्त्र में चार अर्थों में प्रयुक्त है–

1. ज्ञान 2. विचार 3. लाभ 4. सत्ता।

---

1 ऋ. 1/1/1
2 ऋ. 1/1/05

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

माधवीया धातुवृत्ति में इस आशय का श्लोक इस प्रकार प्राप्त है–

सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्वन्लुकश्नम् शेष्विदं क्रमात्।।[1]

√ विद धातु में सत्ता-अर्थ में विद्यते, ज्ञान अर्थ में वेत्ति, विचार अर्थ में विन्ते, लाभ या प्राप्ति अर्थ में विन्दते तथा विन्दति दोनों ही रुप बनते हैं। ये विद् धातु के चारों भेद अलग-अलग गणों विद् सत्तायां दिवादिगण की, विद् ज्ञाने अदादि गण की, विद् विचारणे रुधादिगण की, विद्लृ लाभे तुतादि गण की धातु के रूप क्रमशः विद्यते, वेत्ति, विन्ते, विन्दते या विन्दति रूप बनते हैं।

जात+विद् (ज्ञाने) धात्वर्थ की निरुक्तकार ने पहली ही निरुक्ति की है। जातवेदः कस्मात्? जातानि वेद[2]। अर्थात् जातवेद किस कारण से? उत्पन्न हुए पदार्थों को जानने से। 'जातानि वेद' निरुक्ति की व्याख्या में दुर्गाचार्य अपनी ऋज्वर्थ टीका में लिखते हैं- 'स हि जातानि सर्वाणि भूतानि वेद जानाति लोकपालत्वात्'[3] अर्थात् वह परमात्मा सबका पालक व सर्वज्ञ है, अतः वही सब उत्पन्न हुए प्राणियों को जानता है, इसलिए वह जातवेद है। जात+विद ज्ञाने अर्थ वाला निर्वचन ऐतरेय ब्राह्मण में भी प्राप्त होता है।

सोऽब्रवीत्। जाता वै प्रजा अनेनाविदमिति, यदब्रवीत् जाता वै प्रजा अनेनाविदमिति, तज्जातवेदस्यमभवत् तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्।।[4]

अर्थात् उस (प्रजापति) ने कहा उत्पन्न सभी प्रजा को हमने इस अग्नि (जातवेद) से प्राप्त किया। जो यह कहा कि उत्पन्न सभी प्रजा को हमने इस (जातवेद) अग्नि से जाना। इसीलिए जातवेद-देवताक सूक्त हुआ। उत्पन्नों का जानने वाला होने के कारण ही इसका (परमेश्वररूप) अग्नि का नाम जातवेद हुआ। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी जात+विद् (ज्ञाने) धात्वर्थ वाली निरुक्ति को विशेषत्वेन अपने वेद भाष्य में बहुत्र स्वीकार किया है–

1 माध. पृ. 555
2 निरुक्त 7/5/19
3 निरुक्त दुर्गा. टीका. 7/5/19
4 ऐ.ब्रा. 3/12

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

वेत्ति जातान् सर्वान् पदार्थान्।[1]

यो जातानि विन्दति वेत्ति वा सः।[2]

जातान् सर्वान् पदार्थान् वेत्ति तम्।[3]

यो जातानि वेद।[4]

सकलं जगत् वेत्ति जानाति यः सः जातवेदः।[5]

(ii) जातानि वैनं विदुः[6]

यह निरुक्तकार की दूसरी निरुक्ति है। इसमें भी जात+विद् (ज्ञाने) का ही भाव गृहीत है। इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य लिखते हैं। अथवा जातानि सर्वाणि भुवनानि एनं विदुः जानन्ति। अर्थात् उत्पन्न हुए सम्पूर्ण भुवन के लोग जिसे जानते हैं, वह जातवेद है। ऊपर की दोनों निरुक्तियों में यद्यपि जात+विद्(ज्ञाने) का धात्वर्थ ही अभिप्रेत है, परन्तु दो भाव हैं–

1. जो उत्पन्न हुए सभी लोकों (पदार्थों) को जानता है।
2. सभी उत्पन्न लोक (मुख्य) जिसे जानते हैं।
3. जात+विद् विचारणे धात्वर्थ निर्वचन का प्रयोग भी वेद में प्राप्त होता है। विचारार्थक निरुक्ति इस प्रकार बनेगी **'यो जातं विन्ते विनत्ति वा सः जातवेदः।'** अर्थात् जो प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ को विचारता है, वह जातवेद है।

निरुक्तकार की तीसरी निरुक्ति है **'जाते जाते विद्यत इति वा''।।**[7]

अर्थात् जो सम्पूर्ण उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान है। इस निरुक्ति में जात+विद् सत्तायाम् धात्वर्थ अभिप्रेत है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी अपने वेद–भाष्य में जातवेद शब्द की जात+विद् (सत्तायाम्) धात्वर्थक निरुक्ति का यथावत् प्रयोग किया है।

1 ऋ. 1/51/5
2 ऋ. 1/78/5
3 ऋ. 3/3/8
4 ऋ. 6/12/4
5 ऋ. भा. भू. (सन्ध्योपासना प्रकरण)
6 नि. 7/5/19
7 नि. 7/5/19

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

यो जातेषु पदार्थेषु विद्यते सः।[1]

यो जातं सर्वं वेत्ति, विन्दति जातेषु विद्यमानोऽस्ति तस्मै।[2]

यो जातेषु विद्यते सः।[3]

निरुक्तकार की चौथी निरुक्ति है **जातवित्तो वा जात धनः।**[4] अर्थात् जिससे सम्पूर्ण लाभ (धन) उत्पन्न होते हैं। यहाँ जात+विद्लृ लाभार्थक धात्वर्थ अधिगृहीत है। आचार्य सायण ने वेद शब्द का साक्षात् 'धन' अर्थ किया है।[5] ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सत्तरवें सूक्त के पाँचवें मन्त्र में 'वेदः भरन्त- इस मत्रांश मे वेद शब्द का अर्थ धन किया है। पश्चाद्वर्ती विद्वानों ने भी अधः प्रदत्त निरुक्ति प्रस्तुत की है।

विन्दन्ति सुखानि येन धनेन तत् धनं वेदः।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी[6] वेद भाष्य में 'वेद' शब्द को धन का वाचक मानकर 'विन्दन्ति सुखानि येन धनेन तत्' यह निर्वचन किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती की परम्परा के वेद भाष्यकारों ने इसका कुछ परिष्कार कर 'वेदः' शब्द का अर्थ 'विद्याधन' या 'ज्ञानधन' अथवा 'आध्यात्म-सम्पदा' किया है।[7]

पूषा नो वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये।[8]

इस मन्त्र में 'वेदसाम्' का अर्थ धन सम्पत्तियाँ ही किया है। निरुक्त-कार ने भी वेद का अर्थ धन किया है।[9]

दुर्गाचार्य इस निरुक्ति की व्याख्या अधः प्रदत्त शब्दों में करते हैं। **जात शब्दः पूर्वपदं, वित्त शब्दः उत्तरपदं जातस्य वित्तमिति जातवेदाः इति दुर्गः।** अर्थात् जिससे वित्त अर्थात् धन उत्पन्न होता है, वह जातवेद है।

---

1 ऋ. 1/45/3, 3/1/20,21
2 ऋ. 1/100/1
3 यजु. 13/34,18/66, दया. नि. व्य. को. पृ. 111
4 ध्म. 7/5/19
5 ऋ. 1/20/5
6 ऋ. 1/70/05
7 ऋ.भा. 1/70/5 हरिवरण सिद्धान्तालङ्कार
8 ऋ. 1/89/05, यजु. 025218
9 वेदः धनम् तदपि (आभर) आहर इतिः नि. विवृ. टी. 6/22

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

निरुक्तकार ने पाँचवी निरुक्ति की है- **जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः।।** यह निरुक्ति भी जात+विद् (ज्ञाने) धात्वर्थ की अथवा विद् चेतनाख्यान् निवासेषु अर्थ की प्रकाशिका है। जिससे समस्त विद्याएँ उत्पन्न होती है, वह जातवेद है, अथवा सकल पदार्थों के प्रज्ञान (उत्कृष्टज्ञान) वाला जातवेद कहलाता है। दुर्गाचार्य ने इस निरुक्ति का विवेचन दो प्रकार से प्रस्तुत किया है-

1. जातं वेदः प्रज्ञानं यस्य सः। अथवा
2. जातं वेदो विचारणं यस्य सः।[1]

जिससे वेद अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञान उत्पन्न हुआ या ज़िससे विचार उत्पन्न हुआ, वह जातवेद है। यहाँ विद् ज्ञाने और विद् विचारणे दोनों ही धात्वर्थ आचार्य को अभिप्रेत हैं।

निरुक्त ने एक और निरुक्ति भी दी है, जो जात+विद्लृ लाभे धात्वर्थ को प्रकट करती है-

यज्जातः पशून् अविन्दत तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्।।[2]

अर्थात् जो उत्पन्न हुआ, पशुओं को प्राप्त होता है, यह जातवेद का जातवेदत्व है। अर्थात् प्रत्येक ऋतु में पशु जिससे (जिसको प्राप्त करके) पुष्टि को प्राप्त करते हैं। प्रत्येक ऋतु में जातवेद (अग्नि) के द्वारा अन्न की अभिवृद्धि होकर पशुओं की समृद्धि का कारण बनती है, यही जातवेद का जातवेदत्व है। यदि हम इसको आध्यात्मिक अर्थ में लें तो जातवेद (परमेश्वर) से सबको जीवन प्राप्त होने से उस परमेश्वर को जातवेद कहते हैं। शतपथब्राह्मण में जातवेद के इसी भाव को प्रकट करने वाली निरुक्ति प्राप्त होती है। **तद् यज्जातं जातं विन्दते, तस्माज्जातवेदाः**[3] अर्थात् जो वह प्रत्येक उत्पन्न को प्राप्त करता है, इसलिए वह (अग्नि) जातवेद है। ऐतरेय ब्राह्मण में 'प्राण' को जातवेद कहा है। **'प्राणो वै जातवेदाः', सहि जातानां वेद, यावतां वै स जातानां वेद ते भवन्ति'।**[4]

1 नि. दु. टी. पृ. 372
2 नि. 7/5/19
3 श. प. ब्रा. 9/5/1/68
4 ऐ. ब्रा. 2/5/7, 2/39

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अर्थात् जातवेद प्राण है, क्योंकि वह उत्पन्न हुए (शरीरों) को जानता है, उत्पन्न शरीर ही अस्तित्व को प्राप्त होते हैं। यहाँ जात+विद् ज्ञाने धात्वर्थ अभिप्रेत है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने[1] ऋ. के 3/6/6 में. जातवेद शब्द की एक अतिरिक्त निरुक्ति (व्युत्पत्ति) प्रस्तुत की है 'जातवेदाः यस्माज्जगदीश्वरात्' जात+विद् अर्थात् उत्पन्न हुए हैं 'वेद' जिससे वह ईश्वर जातवेद है, मंत्र में इसका प्रमाण उपलब्ध है।

तस्माद्यज्ञात्–सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दासि जजिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।[2]

अर्थात् उस यज्ञरूप जगदीश्वर से ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद तथा अथर्ववेद उत्पन्न हुए।

वैश्वानर

जातवेद की भाँति वैश्वानर भी अग्नि का गुणों पर आधारित नाम है। वैश्वानर शब्द अग्नि की व्यापकता का वाचक है। आध्यात्मिक दृष्टि से वैश्वानर शब्द परमेश्वर का वाचक भी है। मूलतः वैश्वानर शब्द भौतिक दृष्टि से अग्नि का और आध्यात्मिक दृष्टि से परमात्मा का वाचक है। निरुक्तकार ने वैश्वानर शब्द की तीन निरुक्तियाँ की हैं।

1. **विश्वान् नरान् नयति।**
2. **विश्वे एनं नराः नयन्ति इति वा।**
3. **अपि वा विश्वानर एव स्यात्। प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि, तस्य वैश्वानरः। तस्यैषा भवति।**[3]

1. विश्वान् नरान् नयति

अर्थात् जो सब मनुष्यों को ले जाता है। वह वैश्वानर है। जो मनुष्यों को गतिमान् बनाता है, वह (अग्नि) वैश्वानर है। यह निर्वचन मनुष्यों के शरीर की ऊर्जा (शक्ति) की ओर संकेत कर रहा है, क्योंकि

1 ऋ. 3/6/6
2 ऋ.. 10/50/9
3 नि. 7/6/21

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

ऊर्जावान् व्यक्ति ही गतिमान् हो सकता है। जब तक मनुष्य शरीर में ऊर्जा (अग्नि) रहती है, वह चलता है, गति करता है। वह भौतिक और सामाजिक उन्नति करता है। यह वैश्वानर (अग्नि) ही मनुष्यों को पितृलोक और देवलोक तक ले जाता है। जैसा कि वेद में कहा है–

स त्वैतेभ्य परिददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदित्रियेम्यः।।[1]

अर्थात् वह अग्नि (वैश्वानर) तुम्हें पितृलोक, देवलोक तथा सुविदित्र (ज्ञानलोक) को प्रदान करे। वैश्वानर शब्द विश्व+नृ नये धातु से गुण तथा रपर एवं दीर्घ होकर विश्वानर तथा पुनः 'तस्येदम्'[2] सत्र से अण् प्रत्यय तथा आदि वृद्धि होकर सिद्ध होता है। अर्थात् जो सब पदार्थों को ले जाने की सामर्थ्य रखता है, वह वैश्वानर (अग्नि) है। वेद में वैश्वानर अग्नि को पृथिवी की नाभि कहा है। वह पृथिवी के सब रत्नों को धारण करने वाला है।

वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनां स्थूणेव जनाँ उपमिद्ययन्थ।[3]

मूर्धा दिवो नाभिरग्निः पृथिव्या अथाभवदरती रोदस्योः।[4]

उपर्युक्त प्रथम मन्त्र के भाष्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैश्वानर शब्द की निरुक्ति निम्न शब्दों में प्रस्तुत की है–

यो विश्वान् सर्वान् पदार्थान् नयति – अर्थात् सकल पदार्थों को ले जाने में समर्थ है, वह वैश्वानर (अग्नि) है।

2. विश्वे एवं नराः नयन्ति इति वा।[5]

यह निरुक्तिकार की वैश्वानर शब्द की द्वितीय निरुक्ति है। सब लोग इसे ले जाते हैं। अपने-अपने कार्य सम्पादन के लिए अग्नि को ले जाते हैं, अथवा अपने-अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए अग्नि में आहुति देने हेतु अग्नि का प्रणयन करते हैं। पुत्रेष्टि, वृष्टि, नवन्नेष्टि सभी इष्टि यज्ञों में अग्नि का ही प्रणयन होता है। अतः अग्नि वैश्वानर है। इस निरुक्ति में विश्व+नृ (नर) + नी धात्वर्थ प्रयुक्त है।

1 नि. 7/6/21
2 अष्टा 4/3/120
3 ऋ. 1/59/1
4 ऋ. 1/59/2
5 नि. 7/6/21

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

3. अपि वा विश्वानर एव स्यात्[1]

यह निरुक्तकार की वैश्वानर शब्द की तीसरी निरुक्ति है। इसका अभिप्राय है कि–अथवा विश्वानर ही हो सकता है, अर्थात् सब भूतों में व्याप्त होने से यह विश्वानर ही वैश्वानर है। विश्वान्+अरःविश्वानरः, अर्थात् सब प्राणियों को प्राप्त है, वह विश्वानर या वैश्वानर है निरुक्तकार स्वयं इसकी व्याख्या में लिखते हैं– **प्रत्यृत सर्वाणि भूतानि, तस्य वैश्वानरः। प्रत्यृत प्रतिगतः प्रविष्ट इत्यर्थः।** अर्थात् सब प्राणियों (भूतों) में प्रविष्ट या प्राप्त (अग्नि) वैश्वानर है। इस निरुक्ति में विश्व+ऋ गतौ धात्वर्थ अभिप्रेत है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ऋग्वेद मन्त्रों के भाष्य में वैश्वानर शब्द की निरुक्ति में लिखते है– 'य विश्वेषु नरेषु नायकः।' अर्थात् जो सब मनुष्यों का नायक है, सब में प्रमुख व प्रधान है वहीं वैश्वानर है। ऋग्वेद छठे मण्डल के सम्पूर्ण सूक्त का देवता (विषय) ही वैश्वानर है। स्वामी जी ने सभी मन्त्रों में वैश्वानर का अर्थ अग्रणी ही किया है।[2]

जैमिनीय ब्राह्मण में वैश्वानर शब्द की निरुक्ति विश्व+नर+ वृञ् (वरणे) धात्वर्थ से की गयी है–

यद्विश्वं भूतमवारयत तद्वैश्वानरयोर्वैश्वानरत्वम्।।[3]

अर्थात् जिसने प्राणिमात्र का वारण (प्रतिरक्षण) किया, यही वैश्वानर का वैश्वानरत्व है। कोषकारों ने 'अवारयत्' क्रिया पद के हटाना, मुकाबला किया, विरोध किया, प्रतिरक्षा की, संरक्षण किया, प्ररक्षण अर्थ किया है।

जगद्गुरुशंकराचार्य ने 'वैश्वानर' शब्द का आध्यात्मिक अर्थ परमात्मा तथा प्रतिरक्षण किया आदि अर्थ किए हैं। उन्होंने 'वैश्वानर' शब्द की तीन निरुक्यिाँ की हैं।

1. विश्वश्चायं नरश्चेति

---

1 नि. 7/6/21
2 ऋ. 6/1,3,5,6,7
3 जै. ब्रा. 3/8

Funding by IKS-MoE

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

2. विश्वेषां वायं नरः
3. विश्वे वा नरः अस्येति विश्वानरः परमात्मा सर्वात्मत्वात्

1. विश्वश्चायं नरश्चेति

अर्थात् सम्पूर्ण है नर, जो पूर्ण है, जिसमें सबके नेतृत्व की क्षमता है, वह विश्वानर परमात्मा ही वैश्वानर है।

2. विश्वेषां वायं नरः।

अर्थात् सबका है, जो नर, सबका हितकारी होने से वह सबके जीवन को वायु आदि से चलाता है। अतः विश्वानर परमात्मा सबका (हितकारी) नर होने से वैश्वानर परमात्मा है।

3. विश्वे वा नरः अस्येति विश्वानरः परमात्मा सर्वत्मत्वात्

अथवा समस्त प्राणिजन इसके हैं, अतः यह विश्वानर परमात्मा सर्वात्मा होने से वैश्वानर कहलाता हैं।

वैश्वानर शब्द की ऐसी आध्यात्मिक एवं दार्शनिक भाव की निरुक्तियाँ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी अपने वेदभाष्य में प्रस्तुत की हैं।

1. विश्वेषु नरेषु नायकः[1]
2. यो विश्वान् नरान् धर्मकार्येषु नयति तत्सम्बुद्धौ[2]
3. यो विश्वान् नरान् आनन्दयति तम्।[3]

विश्वेषु नरेषु नायकः अर्थात जो सब नरों में नायक है, वह वैश्वानर है। नायक वह होता है, जो सबको लेकर चलता है, सबका नेतृत्व करता है। वैश्वानर परमात्मा सबको लेकर चलता है,
यो विश्वान् नरान् धर्मकार्येषु नयति– अर्थात् सब मनुष्यों को धर्म कार्यो में प्रवृत्त करता है,वह अच्छे कार्यो की प्रेरणा करता है, वह वैश्वानर (परमात्मा) है।

1 ऋ. भा. 6/7/3
2 ऋ. भा. 6/7/4
3 यजु. भा. 7/24

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

यो विश्वान् नरान् आनन्दयति– जो सब प्राणियों को आनन्दित करता या उनके आनन्द की सामग्री प्रस्तुत करता है, वह वैश्वानर परमात्मा है। स्वामी दयानन्द और आचार्य शङ्कर की निरुक्तियों के शब्द अवश्य भिन्न हैं, परन्तु भाव एक ही है।

वेद में वैश्वानर शब्द पार्थिव अग्नि, परमात्मा तथा सब रत्नों के स्वामी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

आसूर्ये न रश्मयो ध्रुवासो वैश्वानरे दधिरेऽग्नावसूनि।
या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु या मानुषेष्वसि तस्य राजा।।[1]

जिस प्रकार सभी रश्मियाँ सूर्य में स्थित होती हैं, उसी प्रकार सभी वसु वैश्वानर में स्थित हैं। जो वसु(रत्न) पर्वतों में, ओषधियों में, जलों में तथा मनुष्यों में विद्यमान हैं, वैश्वानर उन सबका स्वामी है।

निरुक्त में हविष्पान्तीय सूक्त में वैश्वानर को सौर्य कहा है। इस दृष्टि से वैश्वानर द्युस्थानीय देवों की गणना में आता हैं इसके लिए दुर्ग वृत्ति में मन्त्र भी उद्धृत किया है–

विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन् [2]

इस मन्त्र की व्याख्या मे दुर्गाचार्य लिखते हैं।

देवाः इन्द्रादयः विश्वस्मै सर्वस्मै भुवनाय वैश्वानरं विश्वानर हितम्। अग्निं तन्नाामकं देवम् अह्नां दिवसानां केतुं प्रज्ञापकं कर्तारम् अकृण्वन् अकुर्वन् इत्यर्थः।[3]

अर्थात् इन्द्रादि देवताओं ने सकल संसार के सब मनुष्यों के हितार्थ अग्नि देव को, दिनों के कर्त्ता (सूर्य) को बनाया। इस मन्त्र में वैश्वानर को सूर्य का वाचक कहा है। आचार्य शाकपूणि ने पृथिवी स्थानीय अग्नि को ही वैश्वानर कहा है–

अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः।[4]

---

1 ऋ. 1/59/3
2 नि.दुर्ग वृ. पृ. 378 , चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान 2012
3 नि. दुर्ग वृत्ति 7/5/22 पृ. 378
4 नि. 7/5/22

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

वृहद्देवता में अग्नि और वैश्वानर को अन्योन्याश्रित देव बताया है तथा दोनों को ही जातवेदस् का रुप कहा है–

वैश्वानरं श्रितो ह्यग्निर् अग्नि वैश्वानरश्रितः।
अनयोर्जातवेदास्तु तथैते जातवेदसी।।[1]

अर्थात् अग्नि वैश्वानर में निहित है, तथा वैश्वानर अग्नि में निहित है, तथा जातवेदस् इन दोनों में, अतः ये दोनों जातवेदस् के ही रूप हैं।

जैसे वेद में 1/59/3 सूर्य और वैश्वानर की एकरुपता वर्णित है, उसी प्रकार बृहद्देवता में भी वैश्वानर की स्तुतिवाले मन्त्रों का देवता सूर्य को ही माना है।

वैश्वनरीयमिति तु यत्र ब्रूमोऽथ वा क्वचित्।
सूर्यः सूक्तस्य भाक् तत्र ज्ञेयो वैश्वानरस्तुतौ।।[2]

अर्थात् जब हम कहीं कहीं किसी सूक्त को वैश्वानर को सम्बोधित करते हैं, तो उस दशा में वैश्वानर की स्तुति में सूर्य को ही उस सूक्त का देवता मानना चाहिए। सूर्य और वैश्वानर की एकरूपता का एक और प्रकरण वृहद्देवता में आया है–

सौर्यवैश्वानरीयं हि तत्सूक्तमिव दृश्यते।
ऋगर्धर्चाऽथवा पादोद्वृचो वा यदि वा तृचः।।[3]

अर्थात् चाहे ऋचा हो अथवा अर्ध-ऋचा, चाहे मन्त्र हो अथवा ऋचा के दो या तीन चरण, सूर्य और वैश्वानर को सम्बन्धित होने पर सूर्य का ही सूक्त प्रतीत होता है।

यह गृहद्देवता का भाव वेद में भी उपलब्ध होता है तथा निरुक्त की टीकाओं में भी इसका दृष्टिकोण उपलब्ध होता हैं। पुनश्च वैश्वानर को सामान्यतः पृथिवीस्थानीयदेवता अग्नि का ही एक रूप माना गया हे, जो कहीं कहीं वेद में सूर्य का वाचक है तथा परमात्मा का वाचक तो है ही। अतः साररूप में वैश्वानर अग्नि सूर्य और परमात्मा का वाचक है।

---

1 वृहद्देवता– 1/97
2 वृहदो. 1/100
3 वृहद्दे. 2/17

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

पृथिवी

पृथिवी-स्थानीय देवों में पृथिवी का प्रमुखतम स्थान है, क्योंकि वही तो पृथिवीस्थानीय देवों का आधार है। वेद में पृथिवी को सभी प्रकार के यज्ञों की वेदी कहा है, क्योंकि इसी पर सब प्रकार के यज्ञ सम्पादित होते हैं।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।[1]

अर्थात् यह यज्ञ सारे ब्रह्माण्ड (भुवन) की नाभि है, तथा पृथिवी उस यज्ञ की वेदी का अन्तिम सिरा है। एक और प्रमाण यजुर्वेद का देखिए जिसमें पृथिवी को यज्ञाग्नि का आधार कहा है-

तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे।।[2]

अर्थात् उस विस्तृत एवं देवयज्ञ के आधार, भूमि की पीठ पर (अन्नाद) अन्नों का भक्षण करने वाली अग्नि का स्थापित करता हूँ। इसी कारण इस मन्त्र को अग्न्याधान की विधि में विनियुक्त किया गया है।

पृथिवी देवता के कतिपय विशेषण जो उसके गुण और प्रकृति तथा निरुक्ति का हेतु हैं, अधः प्रदत्त मन्त्र में प्राप्त होते हैं-

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी।
यच्छा नः शर्म सप्रथः।।[3]

अर्थात् हे (सप्रथः) विस्तार युक्त पृथिवी! तुम (स्योना) सुख दात्री हो, (अनृक्षरा) निष्कण्टक हो, (निवेशनी) निवास योग्य हो। तुम (नः) हमें (शर्म यच्छ) सुख प्रदान करो।

इस मन्त्र में 'सप्रथः' विशेषण पृथिवी के पृथु विस्तारे धात्वर्थक निर्वचन का संकेत है, तथा स्योना, अनृक्षरा तथा निवेशनी शब्द पृथिवी के गुणों तथा विशेषता का वर्णन करते हैं।

निरुक्तकार ने पृथिवी का निर्वचन प्रथ् विस्तारे धात्वर्थक ही किया है।

---

1 ऋ. 1/154/35
2 यजु. 3/5
3 ऋ. 1/22/15

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पृथनात्पृथिवी इत्याहुः [1]

दुर्गाचार्य इस निर्वचन की व्याख्या में लिखते हैं- **पृथनात् पृथुत्वात् पृथिवीत्याहुस्ते शाकटायनः।** अर्थात् विस्तार का भाव होने से पृथिवी कही जाती है, यह आचार्य शाकटायन का भी विचार है।

ऋग्वेद में प्रथ् विस्तारे धात्वर्थक निवर्चन के अनेक मन्त्र है, जिनमें से कतिपय मन्त्र भावार्थ सहित यहाँ उद्धृत हैं।

दिवश्चिदस्य वरिमा विपप्रथ इन्द्रं न महा पृथिवीं च न प्रति। [2]

इस इन्द्र अर्थात् सूर्य (सविता) या परमेश्वर की महिमा द्युलोक से विस्तृत पृथिवी पर्यन्त फैली हुई है।

स धारयत् पृथिवीं पप्रथच्च वज्रेण हत्वा निरपः ससर्ज।। [3]

उस इन्द्र ने (सूर्य) ने पृथिवी को धारण किया है, तथा विस्तृत किया है, सूर्य ने अपनी किरणों रूपी वज्र से बादलो को नष्टकर जलों को उत्पन्न किया है। यहाँ 'पप्रथत्' क्रिया पद से पृथिवी का निर्वचन किया गया है।

यजुर्वेद में भी प्रथ् विस्तारे धात्वर्थक निर्वचन का मूल उपलब्ध होता है।

प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्।
व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि।। [4]

हे प्रजापति। तुम व्यापक विस्तार वाली पृथिवी को जल की पीठ पर समुद्र के स्थान में स्थापित करो। हे पृथिवी! तुम फैलो, क्योंकि तुम तो पृथिवी हो।

इस मन्त्र में प्रथस्व क्रियापद से तथा प्रथस्वती विशेषण पद से पृथिवी की निरुक्ति की गई है।, अथर्ववेद में भी पृथिवी के स्वरुप का व्याख्यान एवं निर्वचन करने वाली ऋचाएँ प्राप्त होती हैं। अथर्ववेद में

---

1 नि. 1/4/13
2 ऋ. 1/55/1
3 ऋ. 1/103/2
4 यजु. 13/17

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

तो भूमि का प्रसिद्ध सूक्त ही है, जिसमें पृथिवी (भूमि) के स्वरुप व विस्तार तथा लाभों की विस्तृत चर्चा है। पुनश्च भूमिसूक्त के इस मन्त्र में पृथिवी का विवेचन प्रस्तुत है।

असम्बाधं बध्यतो मानवानां यस्यां उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या विभर्ति पृथिवी न प्रथतां राध्यतां नः।।[1]

पृथिवी पर मनुष्यों के निमित्त बाधारहित ऊँचे, विशाल और समतल बहुत से स्थान हैं, तथा जो उनको तथा शक्तिशाली औषधियों को धारण करती है, वह पृथिवी हमें विस्तृत करे तथा हमें सिद्ध हो अर्थात् हमारे कार्यों को सिद्ध करने वाली है।

इस मन्त्र में 'पृथिवी' शब्द का निर्वचन 'प्रथताम्' क्रिया पद से किया गया है। कतिपय 'प्रथताम्' क्रिया पद की व्युत्पत्ति प्रथ प्रख्याने धातु से तथा कतिपय विद्वानों ने पृथ-प्रथ विस्तारे धातु से निष्पन्न मानते हैं। एक प्रकार से प्रख्यान और विस्तार दोनों एक ही भाव के पूरक हैं, क्योंकि जो प्रख्यात अथवा प्रसिद्ध है, वही तो विस्तृत है। प्रख्यात शब्द का अर्थ प्रकृष्ट ख्यान (आख्यान) कथन है। प्रख्यान शब्द का अर्थ प्रकृष्ट कथन उसी का होता है, जो प्रसिद्ध होता है। वस्तुतः किसी वस्तु या व्यक्ति का क्षेत्र विस्तृत होता है, उसी का प्रख्यान होता है। अतः प्रथ प्रख्याने तथा प्रथ् विस्तारे एक ही भाव के वाचक हैं। पृथिवी शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरण शास्त्र में प्रथ विस्तारे अथवा प्रथ प्रख्याने धातु से औणादिक सूत्र "प्रथः षिवन् षवन ष्वनः सम्प्रसारणं च" से षिवन् प्रत्यय होकर सम्प्रसारण व डीष् प्रत्यय लगकर पृथिवी तथा षवन् और ष्वन् लगकर क्रमशः पृथवी एवं पृथ्वी शब्द सिद्ध होंगे। इसके पृथिवी, भूमि और अन्तरिक्ष तीनों ही अर्थ होंगे।

प्रथते विस्तीर्णा भवतीति पृथिवी,पृथवी,
पृथ्वी भूमिरन्तरिक्षं वा इत्येकार्थास्त्रयः।[2]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद भाष्य में पृथिवी शब्द का अर्थ सुख देने की निमित्त कारण व सुख देने वाली विद्या किया है।

1 अथर्व. 12/2
2 उ.को. 1/150 द. वृ. पृ. 60 वृत्तिकार सत्यव्रतशास्त्री चण्डीगढ़ 1997

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

पृथिवी पृथु सुखनिमित्ता।[1]

पृथिवी पृथु सुखदात्री विद्या।[2]

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में ईश्वर के 100 नामों की व्याख्या में पृथिवी शब्द की निरुक्ति ईश्वरार्थ वाचक की है।

यः पर्थति सर्वं जगद्विस्तृणाति स पृथिवी।[3]

अर्थात् जो सब विस्तृतजगत् का विस्तार करने वाली है, अतः उस ईश्वर का नाम पृथिवी है। शतपथ ब्राह्मण में पृथु विस्तारे धात्वर्थक निर्वचन प्राप्त होता है। **तामप्रथयत सा पृथिव्यभवत्** अर्थात् उसको विस्तृत किया, इसलिए पृथ्वी हुई। जैमिनीय ब्राह्मण में इसी भाव की निरुक्ति प्राप्त होती है।

यद् प्रजापतिः अप्रथयत् तस्मात् पृथिवी [4]

प्रजापति (परमेश्वर) ने इसका विस्तार किया (फैलाया) इसलिए इसका नाम पृथिवी हुआ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के **सा प्रथते पृथिवी एवं अप्रथत्** [5] पृथिवी इन दोनों निर्वचनों में प्रथ् विस्तारे धात्वर्थक भाव ही व्याख्यात है।

भूमिसूक्त में पृथिवी को माता कहकर परमादरणीया अभिव्यक्त किया है तथा स्वयं को (मनुष्य को) पुत्र के रूप में स्थापित किया है वस्तुतः पृथिवी हमारी अन्न, ओषधियों के द्वारा मातृवत् रक्षा करती है। भूमि (पृथिवी) की महिमा एवं स्वरूप को करने वाले 63 मन्त्र हैं, जिनमें से एक मन्त्र यहाँ उद्धृत है, जिसमें पृथिवी की अनेक शक्तियाँ वर्णित है–

विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं विभृती भूमिरग्निमिन्द्रं ऋषभा द्रविणे नो दधातु।।[6]

---

1 यजु. भा. स्वा. द. 2/10
2 यजु. भा. स्वा. द. 2/10
3 स.प्र. प्र. स. (स्वा दयानन्द सरस्वती)
4 वै. नि. को. डॉ. कृष्णलाल
5 तै. ब्रा. 2/1/2/3
6 अथर्व. 12/01/06

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

वह पृथिवी (भूमि) सबका (संसार का) भरण पोषण करने वाली है, (वसुधानी) अन्न, धनादि रत्नों को धारण करने वाली रत्नगर्भा है, वही (प्रतिष्ठा) सबका आधार है। अतः सब उसी में प्रतिष्ठित हैं, (हिरण्यवक्षा) जिसने वक्षस्थल में सुवर्ण आदि को धारण किया हुआ है, (जगतः निवेशनी) संसार के निवास का स्थान है, (वैश्वानरं अग्निं विभ्रती) सव मनुष्यों को धारण करने वाली अथवा वैश्वानर अग्नि को धारण करने वाली अर्थात् सबकी जठराग्नि (भूख) को शान्त करने वाली है, (इन्द्रं ऋषभा) ऐश्वर्यशाली इन्द्ररूप वृषभादि को धारण करने वाली वह पृथिवी हमारे लिए धनों को धारण करे।

इस पृथिवीदेव को स्थिर रखने व संरक्षण के लिए वेद ने कुछ आवश्यक तत्व अधःप्रदत्त मन्त्र में कहे हैं।

सत्यं वृहदुग्रं दीक्षातपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥[1]

मन, वचन कर्म से सत्य का पालन, वृहद् (व्यापक) दृष्टिकोण (ऋतं) ईश्वर नियमों के अनुसार आचरण, (दीक्षा) कार्यों में दक्षता, तथा कर्त्तव्य कर्मो के प्रति कठोरश्रम, (ब्रह्म, यज्ञः) ईश्वर में अटूट आस्था अथवा ज्ञान की भावना या विद्वानों का सत्कार, आपस में मिलकर चलना व परस्पर त्याग का भाव, ये तत्व पृथिवी को धारण करते हैं। यह पृथिवी (भूतस्य भव्यस्य पत्नी) हमारे भूत और भविष्य की रक्षिका (पालन करने वाली) है, वह पृथिवी (उरुं लोकं न कृणोतु) हमारे लिए विस्तार का अवसर प्रदान करे।

नदी

नदी पृथिवीस्थानीय देवों में एक मुख्य देवता है। यद्यपि ऋग्वेद जो कि देवताओं के सूक्तों का केन्द्र है, उसमें स्वतन्त्र रूप से नदी सूक्त प्राप्त नहीं होता, तथापि उसमें नदी के कार्य, गुण तथा स्वरूप को प्रकाशित वाले अनेक मन्त्र विद्यमान हैं। देव सूक्तों में नदी की गणना न होने पर भी नदी के देव होने में कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि देव

1 अथर्व. 12/1/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

पद की निरुक्ति प्रकरण में देव का सर्वप्रथम निर्वचन 'दानाद्वा' पद से किया गया है अर्थात् जो देने की सामर्थ्य वाला है, वह देव है। नदियाँ ही जल प्रदान करती हैं। किसानों को खेत सीचनें के लिए, मनुष्यों को पीने के लिए, स्नान, प्रक्षालन आदि के लिए जल का मुख्य स्रोत नदियाँ ही होती हैं, अतः नदियों में देवत्व तो सुनिश्चित है।

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के चौंतीसवें सूक्त में कतिपय मन्त्र जिनमें नदी का उल्लेख है, भावार्थ सहित उद्धृत हैं–

आचष्ट आसां पाथो नदीनां वरुण उग्रः सहस्रचक्षाः।।[1]

(सहस्रचक्षाः उग्रः वरुणः) हजारों किरणों वाला अथवा हजारों पदार्थों को आलोकित करने वाला उग्र अर्थात् तीक्ष्ण सूर्य (आसां नदीनां पाथः आचष्टे) इन नदियों को मेघ के माध्यम से जल दृष्टि कर उनके मार्ग को दिखाता है या प्रशस्त करता है। अतः सूर्य नदी के देवत्व का मूल है।

राजा राष्ट्राणां पेशो नदीनामनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायुः।।[2]

जिस प्रकार जल (नदीनां पेशः) नदियों के स्वरुप अथवा मार्ग को बनाता है, उसी प्रकार (राजा राष्ट्राणां) राजा राष्ट्र के जीवन को बनाता या समृद्ध करता है। (अस्मै) राष्ट्र के लिए (अनुत्तमं क्षत्रं) श्रेष्ठ बल वीर्य ही (विश्वायुः) उस के जीवन का आधार होता है। अभिप्राय यह है कि यदि नदियाँ जलों से भरपूर हो प्रवाहित होगीं, तभी राजा राष्ट्र की समृद्धि व स्थिरता बनाए रख सकता है।

अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजःसुषीदन्।।[3]

(बुध्ने) अन्तरिक्ष में विद्यमान (अब्जां अहिम्) जलों के उत्पादक मेघ अथवा सूर्य (नदीनां रजःसु सीदन्) नदियों के मार्ग में या उनकी समृद्धि में कारण होकर विराजमान रहते हैं। अतः तुम (उक्थैः) उत्तम वचनों या प्रार्थनाओं से उन्हे(गृणीषे) पुकारते हो।

---
1 ऋ. 7/34/10
2 ऋ. 7/34/11
3 ऋ. 7/34/16

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

यद्यपि इस सूक्त के इन मन्त्रों का देवता (विषय) नदी उल्लिखित नहीं है, परन्तु इन मन्त्रों का देवता विश्वेदेवा कहा गया है, जो समस्त देवताओ का वाचक होने से नदी का वाचक भी है। चूंकि इन मन्त्रों में सूर्य अथवा राजा तथा अहि अर्थात् बादल एवं नदी सभी का महत्व वर्णित होने से इनका देवता ऋषियों ने विश्वेदेवा निर्धारित किया है जिसमें नदी का स्वरुप भी आगृहीत है।

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के 50वें सूक्त में नदियों का जल विषाक्त न होने देने का निर्देश दिया गया है, क्योंकि नदियों का जल विषाक्त होने पर वह अनेक रोगों का कारण हो सकता है।

यच्छल्मलौ भवति यन्नदीषु यदोषधीभ्यः परिजायते विषम्।
विश्वे देवा निरितस्तत्सुवन्तु मा मां पद्येन रपसा विदत्सरुः।।[1]

अर्थात् (यत् शल्मलौ) जो शैमल के वृक्ष में तथा (यन्नदीषु) जो नदियों में या नदियों के जलों में तथा (यदोषधीषु) जो वनस्पतियों में (विष परिजायते) विष उत्पन्न होता है, अर्थात् नदियों के जल में, औषधि वाले शैमल आदि वृक्षों में तथा वनस्पतियों में विषक्तता हमारी लापरवाही से पैदा होती है। हे (विश्वेदेवाः) समस्त विद्वान् लोगों अर्थात् प्रकृति विज्ञानियों (तत् निरितः उत्सुवन्तु) उस विषाक्तता को जड़ से दूर करो, क्योंकि (मां पद्येन रपसा मा विदत्सरुः) वह विष-युक्त नदी जल या वृक्ष के रस व वनस्पतियाँ मुझे अशुद्धता से रोगी न बनाएँ। अतः हमारे वैज्ञानिकों को नदियों के जल वृक्षों व वनस्पतियों को विषाणुओं से बचाए रखना चाहिए।

उक्त मन्त्र के माध्यम से यह सन्देश है कि नदी, वृक्ष व वनस्पति आदि का देवत्व तभी तक कायम रहता है, जब तक ये विषाक्त न हों। अतः हमें इनको विषाक्त होने से बचाने का प्रयत्न करना चाहिए ताकि इनका देवत्व (दैवीय गुण) हमारी रक्षा कर सकें।

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के 50वें सूक्त के अगले ही मन्त्र में नदियों के अनेक प्रकारों से जीवन के कल्याण की कामना की गई है।

---
1 ऋ 7/50/3

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

याः प्रवतो निवत उद्वत उदन्वतीरनुदुकाश्च याः
त अस्मभ्यं पयसा पिन्वमाना शिवादेवीरशिदा
भवन्तु सर्वा नद्यो अशिमिदा भवन्तु।।[1]

अर्थात् जो नदियाँ (प्रवतः) दूर देशों तक जाने वाली (याः निवतः) जो नीचे को ओर जाने वाली, (याः उद्वतः) जो नदियाँ ऊँचे स्थानों की ओर जाने वाली तथा (याः उदन्वती) जो प्रचुर जल वाली (याः च अनुदका) एवं जो न्यून जल वाली या जल के अभाव वाली नदियाँ हैं, ताः वे सब (अस्मभ्यं पयसा पिन्वमाना) हमारे लिए उत्तम जल से सीचनें वाली हों, (सर्वाः नद्यो अशिमिदाः भवन्तु) तथा सभी नदियाँ लाभकारिणाी व मङ्गलकरिणी हों, (शिवाः भवन्तु) कल्याणकारिणी हों। (अशिमिदा भवन्तु) अन्नों को उत्पन्न करने वाली व समृद्ध करने वाली हों व अहिंसक हों। अथर्ववेद में नदी के निर्वचन को अभिव्यक्त करने वाला मन्त्र प्राप्त होता है।

ओउम् यददः सं प्रयतीरहावनदता हते।
तस्मादा नद्यो नामस्थ ता वो नामानि सिन्घवः।।[2]

हे सिन्धुओ! अर्थात् नदियो! (संप्रयतीः) सम्यक् गति करने वाली (अहौ हते) अहि अर्थात् बादल के नष्ट होने पर (अदः यत् अनदत्) यह जो नाद किया, इसीलिए तुम (नद्यो नामस्थ) नदी नाम वाली हो, (ता वो नामानि) तुम्हारे ये नाम तुम्हारे शब्द करने के अनुरूप ही हैं। इस मन्त्र में नदी के निर्वचन का मूल 'नदता' पद से संकेतित है। इसी प्रकार का व्याख्यान हमें निरुक्त में प्राप्त होता है–

नद्यः कस्मात् नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः।।[3]

अर्थात् नदियाँ क्यों कही जाती हैं। नाद वाली होती हैं, अर्थात् शब्दवती होने से या नाद करने वाली होने से ही ये नदियाँ कहलाती है। पहाड़ से पिघल कर गिरता हुआ पानी (झरना आदि के रूपों में) अव्यक्त शब्द करता है, यही शब्द करता हुआ बहता पानी नदी कहलाता है।

---

1 ऋ. 7/50/4
2 अथर्व. 3/13/1
3 नि. 2/7/24

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'नदी' शब्द 'णद्' अव्यक्ते धातु से **नन्दिग्रहि पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः**[1] सूत्र से अच् प्रत्यय होकर 'णो नः' सूत्र से ण को न होकर तथा स्त्री प्रत्यय ङीप् लगकर नदी शब्द सिद्ध होता है।

यद्यपि ऋग्वेद के एक मन्त्र में नाद शब्द से नद या नदी के निर्वचन का मूल अवश्य है, परन्तु नदी के जो गुण व स्वरूप ऋग्वेद के मन्त्रों[2] में कहे गए, हैं, वे नद अव्यक्ते धात्वर्थ से नहीं है, तथा नदी का देवत्व भी नदी के शब्दवती होने से नहीं है। नदी का देवत्व उसके जलवती होने से है, क्योंकि नदी के जल से ही हमारे सारे कार्य सिद्ध होते है, चाहे वह पिपासा (प्यास) हो, चाहे कृषि की सिञ्चाई हो या स्नान, प्रक्षालनादि कार्य हों। ऋग्वेद के मन्त्र में कहा गया है-

रपद् गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परिपातु मे मनः।[3]

अर्थात् (अप्या) जल से निर्मित (रपद् गन्धर्वी) विद्युत गर्जन करती है, इस प्रकार के घनघोर (नदस्य नादे) नद की आवाज या नाद से (परिपातु मे मनः) मेरे मन की रक्षा करो। इस मन्त्र में नाद से नद की निरुक्ति का संकेत है।

सोम

सोमदेव की गिनती मुख्यत्वेन पृथिवीस्थानीय देवों में की गई है। वेद में सोम देवता से सम्बन्धित अनेक मन्त्र हैं। ऋग्वेद में सोम देवता से सम्बन्धित 120 सूक्त हैं। ऋग्वेद का सम्पूर्ण नवम मण्डल ही सोम देवता की प्रशस्ति एवं स्वरूप व गुणों के मन्त्रों से भरा पड़ा है। 114 सूक्त तो नवम मण्डल के तथा कतिपय दूसरे देवताओं के साथ के मन्त्र ऋग्वेद में उपलब्ध हैं।

वेद में सोम शब्द का प्रयोग निस्यूतपेयओषधि, परमेश्वर, चन्द्रमा तथा आनन्ददायक तत्व के रूप में हुआ है। यद्यपि महर्षि यास्क ने सोम और चन्द्रमा दोनों ही अर्थ स्वीकार किये हैं, तथापि मुख्यत्वेन निस्यूत

---

1 अष्टा. 3/1/34
2 ऋ. 7/34/10व 7/34/11 तथा 7/34/16
3 ऋ. 10/11/2

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

ओषधि के रुप में सोम का उल्लेख है। इसी कारण पृथिवीस्थानीय देवों में सोम की गणना की गई है।

वृहद्देवता में अग्नि के साथ सम्बद्ध देवों में सोम की गणना की है।

इन्द्रेण च मरुद्भिश्च सोमेन वरुणेन च।
पर्जन्येनर्तुभिश्चैव विष्णुना चास्य संस्तव॥[1]

अर्थात् वह अग्नि, इन्द्र और मरुतों के साथ, सोम और वरुण के साथ पर्जन्य और ऋतुओं के साथ तथा विष्णु के साथ स्तुतियों को ग्रहण करता है।

जैसे अग्नि के साथ सोम पृथिवीस्थानीय है। इसी प्रकार इन्द्र के साथ अन्तरिक्षस्थानीय तथा चन्द्रमा के रुप में द्युस्थानीय देवों में सोम की गणना वृहद्देवता में की गई है परन्तु मुख्यत्वेन अधिकांश मन्त्रों में पृथिवी स्थानीय निचोड़े गए ओषधि पेय के रुप में प्रशस्ति की गई है, इसी कारण सोम को पृथिवीस्थानीय देव माना है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के पाञ्चवें सूक्त के मन्त्र में सोम को निस्यूत ओषधि के रुप में शरीर का रक्षक एवं आनन्द का वर्धक बताया है, तथा –षूञ् अभिषवे धात्वर्थ का मूल भी प्राप्त होता है।

सुत पाब्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये।
सोमासो दध्याशिरः॥[2]

(इमे सुताः सोमासः) ये निस्यूत किये गए अर्थात् निचोड़े गए सोमकण या ओषधि बिन्दु (सुतपाब्ने) उत्पन्न या निचोड़े गए सोम कणों की रक्षा के लिए तथा (बीतये) आनन्द के लिए (यन्ति) प्राप्त होते हैं तथा हमारे (दध्याशिरः) शरीरों को धारण करने वाले होते हैं।

इसी प्रकार ऋग्वेद प्रथममण्डल के सोहलवें सूक्त में सोम के विशेषण के रुप में (सुत) शब्द से (षूञ्) अभिषवे धात्वर्थ वाले निर्वचन का संकेत है।

---

1 वृहद्. 1/117
2 ऋ. 1/5/5

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अयं ते स्तोमो अग्रियो हृदि स्पृगस्तु शंतनः।
अथा सोमं सुतं पिव।।[1]

यद्यपि इस मन्त्र का देवता इन्द्र हैं। इस मन्त्र में इन्द्र से सोम पान की प्रार्थना की गई है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है- हे इन्द्र (अयं ते स्तोम) यह स्तुतिसमूह तेरे लिए (अग्रियः) आगे उपस्थित करने वाला हो, तथा (हृदि स्पृगः शन्तनः) हृदयस्पर्शी, हृदय को छू जाने वाला तथा शान्ति देने वाला है। अतः (सुतं सोमं पिव) आप इस निचोड़े गए सोम का पान करो।

ऋग्वेद में सोम को ईश्वर मानकर अनेक प्रार्थनाएँ की गई हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सोम की परमेश्वर वाचक निरुक्ति यजुर्वेद भाष्य में की है-

सुवति चराचरं जगत् तत्सम्बुद्धौ जगदीश्वरः।[2]

अर्थात् जो सम्पूर्ण चराचर जगत को प्रेरणा देता है वह जगदीश्वर सोम है। ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम को यश व मेधा को देने वाला कहा है-

अस्मे धेहि द्युमद्यशो मघवद्भ्यश्च मह्यं च।
सनिं मेधामुत श्रवः।।[3]

इस सम्पूर्ण सूक्त का देवता (विषय) ही पवमानसोम है। इस मन्त्र में कहा है कि हे सोम! आप (अस्मे द्युमत् यशः धेहि) मेरे लिए दीप्तिमान यश प्रदान कीजिए तथा (मघवद्भ्यः च मह्यं च सनिं मेधाम्) ऐश्वर्य शालियों या कर्मयोगियों के लिए तथा मेरे लिए धन समृद्धि व मेधा (बुद्धि) को (उत् श्रवः धेहि) और सुनने योग्य कीर्ति (यश) को प्रदान कीजिए।

जब हम आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सोम को सबका प्रेरक ईश्वर मानते हैं, तब वह सब शक्यितों व गुणों का दाता स्वाभाविक रूप से हो जाता है।

1 ऋ. 1/16/7
2 यजु. 3/56
3 ऋ. 9/32/6

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अथर्ववेद में सोम को उत्तर-दिशा का अधिपति अर्थात् उत्तरोत्तर वृद्धि का स्वामी कहा है-

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।
तेभ्यो नमो ....।।[1]

अर्थात् सोम स्वरूप परमेश्वर उत्तर-दिशा का अधिपति तथा अजन्मा एवं (अशनि) वाण तुल्य सबका रक्षक है।

कुछ लोग सोमपान के वेदादेश को सुरापान का वाचक मानते हैं, लेकिन सोम, सुरा, का वाचक नहीं है, क्योकि वेद में मदिरा-पान की निन्दा की गई है।

युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम् [2] अर्थात् शराब में डूबे लोग जीवन संग्राम नहीं कर सकते। दुर्गाचार्य इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं-

यथा कुःत्सितमदाः केचित् पुरुषाः सुरायां पीतायां सत्यां युध्येरन्नेवम् [3]

अर्थात् जैसे सुरा पी लेने पर बुद्धि के कुत्सित होने पर सुरापायी ठीक से युद्ध (जीवन संग्राम) नहीं करते।

निरुक्तकार ने ग्यारहवें अध्याय में सोम को ओषधि कहा है- ओषधिः सोमः। सुनोतेर्यदेनमभिषुण्वन्ति[4] अर्थात् सोम ओषधि है, क्यों कि इसको निचोड़कर तैयार किया जाता है। इसकी पुष्टि में निरुक्त में अधः प्रदत्त मन्त्र उद्धृत किया है-

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया।
इन्द्राय पातवे सुतः।।[5]

अर्थात् हे सोम (इन्द्राय पातवे) इन्द्र के पान के लिए अथवा जीवात्मा की रक्षा के लिए (आध्यात्मिक पक्ष) स्वादिष्ठया धारया और आनन्द दायक धारा से अथवा धारणा शक्ति से (आध्यात्मिक पक्ष) उस इन्द्र या जीवात्मा को पवित्र करो।

1 अथर्व. का. 6 सू. 27/4
2 ऋ. 8/2/12
3 नि. 1/2/2 नि. दु.री.
4 नि. 11/1/2
5 ऋ. 1/1/1 यजु. 26/2, साम. पू. 5/2/42

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

आध्यात्मिक पक्ष में सोम (ईश्वर) दिव्यानन्द का वाचक है। वस्तुतः सोम का पान आनन्दमयकोश की प्राप्ति है। अलौकिक आनन्द की प्राप्ति ही सोमपान का फल है।

सोमेनानन्दं जनयन् इन्द्रोयेन्दो परिश्रव।।[1]

हे इन्दो प्रकाशमान आप (इन्द्राय) इन्द्र के लिए अथवा परमैश्वर्य के लिए (सोमेन आनन्दं जनयन्) सोम द्वारा आनन्द उत्पन्न करते हुए (परिश्रव) प्रेरित करें।

आयुर्वेद शास्त्र में गुडुची (गिलोय) को सोमलता कहा गया है। गिलोय का रस सोम कहा गया है। सोमलता का निचोड़ा गया रस व्याधियों का नाशक तथा शरीर के आनन्द का वर्द्धक है।

अपाम सोमममृता अभूम...।[2] अर्थात् हम सोम रस का पान करें तथा अमर हो जाएँ। गिलोय का रस शरीर को व्याधियों से छुड़ाकर (अमरता) सुखातिशय को प्राप्त कराता है। गिलोय का रस (सोमरस) अनेक आयुर्वेदिक औषधियों के निर्माण में सहायक है। सोम सुखकारी है, इस प्रकार की अनेक निरुक्तियाँ व व्युत्पत्तियाँ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अलग-अलग मन्त्रों में अलग-अलग प्रकार से की है।

सूयन्त उत्पद्यन्ते ये ते पदार्थाः।[3]

अर्थात् उत्पन्न हुए पदार्थ (कार्य जगत्) सोम कहलाते हैं।

(1) **अभिसूयन्त उत्पाद्यन्त उत्तमाः व्यवहारा येषु ते।[4]**

जिनसे उत्तम व्यवहार उत्पन्न होते हैं, वे (पदार्थ) सोम कहलाते हैं।

(2) **यः सूयते सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यो रसस्तस्य।[5]**

जो सब पदार्थों से (निचोड़े गए) रस का सार है, वह सोम है।

---

1 ऋ. 9/113/06
2 ऋ. 8/48/3
3 ऋ. 1/2/2 द. भा.
4 ऋ. 1/5/5
5 ऋ. 1/16/05

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(3) सूयते उत्पद्यते यस्तं रसम्।[1]

(निचोड़कर) उत्पन्न हुआ है, जो रस, वह सोम है, उसको।

(4) ये सूयन्ते सुन्वन्ति वा ते पदार्थाः।[2]

जो उत्पन्न हुए पदार्थ हैं वे सोम हैं।

ये सभी निरुक्तियाँ √ षुञ् अभिषवे धातु अर्थ वाली हैं।

(5) यः सुवति ऐश्वर्यं करोति इति तं यज्ञानुष्ठातारम्।[3]

जो ऐश्वर्य का कर्ता एवं यज्ञ का अधिष्ठाता हैं, वह सोम है।

(6) सुवन्ति ऐश्वर्याणि प्राप्नुवन्ति यस्मिन् संसारे तस्मिन्।[4]

जिस संसार के ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं, वह ऐश्वर्य का हेतु जगत् सोम कहलाता है। √ षु प्रसवैश्वर्ययोः।

(7) सुवति चराचरं जगत् तत्सम्बुद्धौ जगदीश्वरः अथवा सूयन्ते रसाः यस्मात् स ओषधिराजः सोमः।[5]

अर्थात् जो चराचर जगत् का प्रेरक व उत्पादक है, वह जगदीश्वर सोम है अथवा जिससे रस (आनन्द) व आरोग्यता उत्पन्न होते हैं, वह ओषधिराज सोम कहलाता है।

इस निरुक्ति में स्वामी जी ने आध्यात्मिक और भौतिक दोनों पक्षों का समावेश किया है। गोपथ ब्राह्मण में सोम निस्यूत ओषधि तथा चन्द्रमा के रूप में व्याख्यात है।

1. चन्द्रमा अप्स्वन्तरिति .... अद्भि सोमोऽभिषूयते।[6]

यहाँ सोम का अर्थ चन्द्रमा किया गया है तथा सोम की उत्पत्ति जल से बताई गई है। जल की सहायता से सोम को निचोड़ा जाता है। अतः यह सुतसोम कहलाता है।

1 ऋ. 1/32/3
2 ऋ. 3/36/2
3 ऋ. 1/18/1
4 यजु. 2/19
5 यजु. 3/56 ष, प्रेरणे
6 गो. ब्रा. (पूर्व) 2/9

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

2. यत्सोमः सूयते[1] अर्थात् जो निचोड़ा जाता है वह सोम है।

3. तस्मात् हिङ्कृत्याध्वर्यवः सोममभिषुण्वन्ति।[2]

अर्थात् इसलिए हिंकार करके अध्वर्युजन सोम को निचोड़ते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में सोम का विस्तृत विवेचन हुआ है। वहाँ सोम को राजा, देवों का अन्न तथा चन्द्रमा कहा गया है।[3] शतपथ ब्राह्मण में ही सोम को वीर्य कहा गया है।[4] सोम को पवमान कहा गया है।[5] तथा सोम को इन्दु (चन्द्रमा) भी कहा गया है।[6] शतपथ ब्राह्मण में सोम को व्यापक दृष्टिकोण से देखा गया है। अतः वहाँ सोम को विष्णु, रुद्र, रात्रि तथा देवताओं की हवि कहा गया है।[7]

सोम को सोम क्यों कहा जाता है तथा इसका नाम सोम क्यों पड़ा? इस प्रश्न का उत्तर शथपथ ब्राह्मण में एक कथानक माध्यम से दिया गया है। वह कथानक में इस प्रकार है–

अथ यस्मात् सोमो नाम। यत्र वाऽएषोऽग्रे देवानां हविर्वभूव तद्वैक्षां चक्रेमैव सर्वेणेवात्मना देवानां हविर्भूवमिति तस्य या जुष्टतमा तनूरास तामपनिदधे तद्वैदेवा अस्पृण्वत ते होचूरूपैवैतां प्रवृहस्व सहैव न एतया हविरेधीति तां दूर इवोपप्रावृहत स्वा वै मऽएषेति तस्मात् सोमो नाम।[8]

अर्थात् इसका नाम सोम क्यों पड़ा? क्योंकि जब वह (सोम) पहले देवताओं की हवि बना तो इसने चाहा कि मैं अपनी पूर्ण शक्ति से देवों की हवि न बनूँ। उसका जो सबसे प्रिय अंश था, उसको अलग कर दिया। अब देव विजयी हो गए। देवों ने कहा तू इसको अपने शरीर में धारण कर अब तू हमारा हवि होगा। उसने उस अंश को दूर से खींच लिया और कहा– यह मेरा ही है (स्वा वै मे) इससे सोम हो गया। शतपथ ब्राह्मण में यह सोम की अन्य ही प्रकार की निरुक्ति है– 'स्वा वै मे' सू+आ+म सोम।

---

1 गो. ब्रा. (उत्तर) 3/4

2 गो.ब्रा. (उत्तर) 3/9

3 एष वै सोमो राजा, देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः। श.प.ब्रा. 1/6/4/5

4 वीर्य वै सोमः। श.प.ब्रा. 1/9/25

5 सोमो वै पवमानः। श.प.ब्रा. 2/2/3/22

6 सोमो वाऽइन्दुः। श.प.ब्रा. 2/2/3/23

7 यो वै विष्णुः सोमः सः। 3/3/4/21, सोमो रुद्रो। श.प.ब्रा. 3/4/2/1
सोमो रात्रिः श.प.ब्रा. 3/4/4/15, हविर्वै देवानां सोमः। श.प.ब्रा. 3/5/3/2

8 श.प.ब्रा. 3/9/1/22

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

निरुक्त में सोम की अतिरिक्त निरुक्ति प्राप्त होती है। **समानां-सम्वत्सराणां मास आकृतिः सोमो रूप विशेषैरोषधिः चन्द्रमा वा**[1] अर्थात् समान सम्वत्सरों की आकृति का निर्माता चन्द्रमा सोम अथवा विशेषरूपयुक्त ओषधि कहलाती है। यहाँ दुर्गाचार्य ने मासः का अर्थ माता (परिमाता) निर्माता किया है। अर्थात् सोम वर्ष का तथा ओषधि का निर्माता है। वस्तुतः यह निरुक्ति, ओषधि के निर्माता चन्द्रमा की ओर संकेत कर रही है। वस्तुतः सोम एक ओषधि भी है और ओषधि का निर्माता चन्द्रमा भी है। लौकिक साहित्य में भी चन्द्रमा को ओषधियों का पति कहा गया है।

यात्येकतोऽस्ति शिखरं पतिरोषधीनाम्[2]

व्याकरण शास्त्र में सोम शब्द √ षु प्रसवैश्वर्ययोः धातु से औणादिक **अर्तिस्तु सुहुसृघृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्** सूत्र से मन् प्रत्यय लगकर सोम शब्द सिद्ध होता है। जिसके उणादि कोष में कर्पूर, चन्द्रमा, वारि, वायु, प्रकाश, मयूख, कुबेर, शिव तथा यम अर्थ दिए हैं।[3] उणादि कोष की स्वामी दयानन्दवृत्ति में भी कर्पूर व चन्द्रमा अर्थ दिए हैं-

सवत्यैश्वर्यहेतुर्भवति सोमः, कर्पूरश्चन्द्रमा वा।[4]

अर्थात् जो ऐश्वर्य का हेतु होता है, वह सोम है। कर्पूर तथा चन्द्रमा इसके दोनों ही अर्थ हैं।

बृहस्पति

वेद में बृहस्पति शब्द ज्ञान के देवता, वाणी के स्वामी (वाचस्पति), बृहद्जगत् के रक्षक परमेश्वर, समुद्रादि के जल का (बृहतां पाता) पान करने वाले सूर्य, देवताओं के गुरु, अन्तरात्मा आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

1 नि. 11/1/5
2 अभि. (कालि.)
3 उणादि कोष (सत्यव्रत शास्त्रीवृत्ति) 1/140 पृ.55
4 उ.को. (स्वामी. दया.वृत्ति) 1/140 पृ.56

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

ऋग्वेद के बृहस्पति सूक्त 10/71 से बृहस्पति देव वाणी का स्वामी होने से निश्चितरूपेण पृथिवीस्थानीय देवों में गणनीय है। ऋग्वेद के मण्डल-4 के पचासवें सूक्त में बृहस्पति शब्द सूर्य के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधत्तमांसि।।[1]

उस व्यापक आकाश में महान् प्रकाश के साथ उत्पन्न सात मुखों (ज्वालाओं) से युक्त अर्थात् सात प्रकार की किरणों से युक्त (बृहस्पति) सूर्य (रवेण) शब्द की गति से (तमांसि) अन्धकारों को (वि अधमत्) दूर भगाएँ।

ऋ. मण्डल 4 के उनञ्चावें सूक्त में इन्द्राबृहस्पती शब्द से सूर्य का संकेत है-

अयं वां परिषिच्यते सोम इन्द्राबृहस्पती। चारुर्मदायपीतये।।[2]

हे (इन्द्राबृहस्पती) विद्युत् और सूर्य अर्थात् देदीप्यमान सूर्य आपके द्वारा (वां आस्ये) तुम्हारे मुख में (मदाय पीतये) आनन्द के लिए, दान के लिए अथवा आनन्द व सुख की रक्षा के लिए (चारु सोमः) अति उत्तम सोम (परिषिच्यते) सींचा जाता है। अर्थात् प्राणिमात्र के सुख व आनन्द के पान के लिए सूर्य अपने प्रकाश से (सोम) चन्द्रमा को सींचता है अथवा ओषधियों या वनस्पतियों को सींचता है।

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों की दृष्टि से तो बृहस्पति सूर्य का वाचक होने से अन्तरिक्षस्थानीय देव है। पुनश्च स्थान जो भी हो हम वेद में बृहस्पति के स्वरूप को प्रतिपादित करते हैं।

बृहत् शब्द पूर्वक पा √ रक्षणे धातु से डति प्रत्यय लगकर बृहत् के तकार का "तद् वृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोरभिधेययोः सुट् तलोपो वक्तव्यः"[3] सूत्र से तकार का लोप तथा सुडागम होकर बृहस्पति शब्द सिद्ध होता है। बृहत् शब्द √ बृह वृद्धौ धातु से औणादिक सूत्र "वर्तमाने पृषद्बृहन्मज्जगत् शतृवत्

1 ऋ. 4/50/4
2 ऋ. 4/49/2
3 अष्टा. 6/1/157

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

च" सूत्र से अति प्रत्यय लगकर सिद्ध होता है। इस प्रकार बृहत् + पतिः से बृहस्पति शब्द बनता है। जिसका अर्थ है (बृहतां पतिः) बृहद् आकाशादि व पृथिव्यादि बृहद् पदार्थों का पालक व रक्षक है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में परमेश्वर के सौ नामों की व्याख्या प्रसङ्ग में बृहस्पति शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है–

यो बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी पालयिता वा सः बृहस्पतिः।[1]

अर्थात् बड़े से बड़े आकाशादि व ब्रह्माण्डों का स्वामी व पालक अथवा रक्षक है, इससे उस परमेश्वर का नाम बृहस्पति है। स्वामी जी की बृहस्पति शब्द की निरुक्ति आध्यात्मिक भाव को प्रकट करती है। जो उसके सर्वशक्तिमान् रूप की प्रकाशिका है।

निरुक्तकार ने भी अपनी निरुक्ति में बृहस्पति के तीन भाव प्रकट किए हैं, परमेश्वर, राजा तथा सूर्य।

बृहतः पाता वा पालयिता वा।[2]

जो इस बृहद् जगत् का रक्षक व पालक तथा पानकर्त्ता है, वह बृहस्पति है। यहाँ पाता का अभिप्राय पान करने वाला है। जो महान् उदधि (समुद्रादि) का जल, अपनी किरणों द्वारा पान करता (सोख लेता) है। इस निरुक्ति में बृहस्पति शब्द का संकेत सूर्य की ओर है।

आचार्य सायण ने ज्ञान (बृहस्पति) सूक्त के प्रथम मन्त्र में बृहस्पति शब्द का अर्थ अन्तरात्मा किया है।[3]

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥[4]

अर्थात् हे बृहस्पति! जब नाम व यश को धारण करने अर्थात् प्रसिद्ध और यशस्वी ऋषियों ने वाणी के श्रेष्ठ रूप को प्रेरित अर्थात्

---

1 स.प्र.प्र.स. (स्वा.दया. सरस्वती)
2 निरु. 10/11
3 बृहस्पतिरनेन सूक्तेन विदित वेदार्थान् बालान् दृष्ट्वा स्मयमानः स्वात्मानं सम्बोध्य आह बृहस्पतेऽन्तरात्मन्।
4 ऋ. 10/71/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

धारण किया, तब उनके पास जो श्रेष्ठ और दोष रहित ज्ञान था, जो उनके हृदय-रूपी गुफा में अन्तर्निहित था, उसे (संसार के कल्याणार्थ) प्रकट किया।

इस सम्पूर्ण ज्ञान या बृहस्पति सूक्त में वाणी के स्वरूप, उसके सम्यक् प्रयोग, वाणी के प्रयोग की पात्रता तथा वाणी को धारण करने वाले आचार्यों का प्रयोग के आधार पर ब्रह्मा, अध्वर्यु, उद्गाता, होता आदि के रूप में विभाजन का उल्लेख है। इसमें से इस सूक्त के एक मन्त्र जिसमें वाणी के समुचित प्रयोग की विधि तथा उस उचित प्रयोग का लाभ वर्णित है, इस प्रकार है-

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।[1]

जो लोग वाणी का प्रयोग, सत्तुओं की भाँति, मन की छलनी में छानकर अर्थात् मनन करके करते हैं, वे इस संसार में सबको मित्र के रूप में देखते हैं तथा उनकी वाणी पर भद्रलक्ष्मी निवास करती है, अर्थात् उनकी वाणी अच्छे फल देने वाली व मित्र बनाने वाली होती है। ऋग्वेद के भाष्यकार आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री ने ऋ. 10/71/1 में बृहस्पति का अर्थ वाचस्पति अर्थात् वाणी का स्वामी ही किया है।[2]

ऋ. मं.2 में बृहस्पति की शक्तिशाली आयुधसम्पन्न राजा के रूप में स्तुति की गई है।

बृहस्पत आयुधैर्जेषि शत्रून्द्रुहे रीषन्तं परिधेहि राजन्।[3] हे राजन्! हे बृहस्पति! क्रोध करने वाले, द्रोह में निमग्न शत्रुओं को आयुधों से अपने वश में कर।

बृहद्देवता में बृहस्पति देव की मध्यस्थानीय देवसमूह में गणना की गई है-

इन्द्राश्रयस्तु पर्जन्यो रुद्रो वायुर्बृहस्पतिः।
वरुणः कश्च मृत्युश्च देवश्च ब्रह्मणस्पतिः।।

---

1 ऋ. 10/71/2
2 ऋ. भा. (द.सं.प्रकाशन) वैद्यनाथशास्त्री मं. 10/71/1 पृ. 438
3 ऋ. 2/30/9

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

इन्द्राश्रयी देवों में पर्जन्य, रुद्र, वायु, बृहस्पति, वरुण, क (प्रजापति), मृत्यु और ब्रह्मणस्पति आदि देव आते हैं।

बृहद्देवता के द्वितीय अध्याय में बृहस्पति देवता की निरुक्ति भी प्राप्त होती है–

बृहन्तौ पाति यल्लोकान् एष द्वौ मध्यमोत्तमौ।
बृहता कर्मणा येन बृहस्पतिरितीडितः।।[1]

क्योंकि वह (बृहस्पति) दो बड़े (बृहत्) मध्यम और उत्तम लोकों की रक्षा करते हैं, अतः इस महान कर्म के कारण उन्हें बृहस्पति कहते हैं। बृहस्पति के अर्थ में ब्रह्मणस्पति और वाचस्पति का भी प्रयोग होता है। अतः बृहद्देवता में ब्रह्मणस्पति का भी विवेचन किया गया है–

ब्रह्म वाग् ब्रह्म सत्यं च ब्रह्म सर्वमिदं जगत्।[2]
पातारं ब्राह्मणस्तेन शौनहोत्र स्तुवज्जगौ।।

ब्रह्म वाणी को भी कहा जाता है, और सत्य भी ब्रह्म है तथा यह समस्त जगत् भी ब्रह्म है। अतः ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति की स्तुति करते हुए उन्हें ब्रह्म (अन्न व धन) का रक्षक कहा है। निरुक्तकार ने भी ब्रह्मणस्पति की ऐसी ही निरुक्ति की है–

ब्रह्मणस्पतिः ब्रह्मणः पाता पालयिता वा।[3]

अर्थात् ब्रह्मणस्पति ब्रह्म अर्थात् अन्न व धन का पालक व रक्षक है।

बृहद्देवता में आचार्य शौनक ने बृहस्पति को सभी देवताओं को प्रेरणा प्रदान करने वाला कहा है–

बृहस्पतिप्रचोदितार्विश्वेदेवगणास्त्रयः।
जग्मुस्त्रितस्य तं यज्ञं भागांश्च जगृहुः सह।।[4]

बृहस्पति से प्रेरणा पाकर तीनों वर्गों के अर्थात् द्यु–स्थानीय, अन्तरिक्ष–स्थानीय तथा पृथिवी–स्थानीय सभी देवताओं ने यज्ञ में आकर साथ–साथ यज्ञ का भाग अर्थात् बृहस्पति के ज्ञान का प्रसाद ग्रहण किया।

1 बृह. 2/39
2 नि. 10/12
3 नि. 10/12
4 बृह. 3/136

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

बृहद्देवता में पाँचवें अध्याय में बृहस्पति ऋषिसन्तान के रूप में मानवशरीरधारी ऋषि बताए गए हैं। उन्हें अङ्गिरस ऋषि की सन्तान कहा है, तथा भारद्वाज ऋषि को बृहस्पति का पुत्र कहा है–

योऽङ्गारेभ्य ऋषिर्यज्ञे तस्य पुत्रो बृहस्पतिः।
बृहस्पतेर्भरद्वाजो विदधीति यः उच्यते।।[1]

अङ्गारों से उत्पन्न हुए ऋषि (अङ्गिरस्) के पुत्र के रूप में बृहस्पति उत्पन्न हुए, तथा बृहस्पति से भरद्वाज उत्पन्न हुए ऐसा कहा जाता है।

इसी प्रकार बृहद्देवता के चतुर्थ अध्याय में बृहस्पति को ऋषिपुत्र कहा है–

द्वावुचथ्य बृहस्पती ऋषिपुत्रौ वभूवतुः।[2] अर्थात् उचथ्य और बृहस्पति ये दो ऋषिपुत्र हुए।

इन उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि बृहस्पति एक दिव्य गुणों से युक्त देवतुल्य ऋषि थे। अतः इनकी गणना पृथिवीस्थानीय देवों में ही की जानी चाहिए। जहाँ इन्हें वेद में सूर्य के रूप में वर्णित पाया जाता है, वहाँ ये द्युस्थानीय देवों में गिने जाने चाहिए। स्वामी दयानन्द एवं उनकी परम्परा के वैदिक आचार्य वेद में किसी ऐतिहासिक पुरुष का उल्लेख नहीं मानते। सार यह है कि बृहस्पतिदेव तथा ऋषि दोनों में यथा प्रसङ्ग गणनीय हैं।

अब तक पृथिवीस्थानीय देवों के विवेचन में हमने उन देवों के विषय में जाना जो मन्त्र में उल्लिखित हैं, जिनकी मन्त्र में स्तुति की गयी है, या जिनकी स्तुति की मन्त्र में प्रेरणा दी गयी है, अथवा जिससे कोई याचना की गई है, या मन्त्र में जिस देवता का स्वरूप या गुणों का वर्णन है। जैसे– **विश्वानि देव सवितर्दुरितानि** में सविता से प्रार्थना होने से सविता देव है। **अग्निमीडे पुरोहितम्** में अग्नि की स्तुति होने से इस मन्त्र का देवता अग्नि है। **इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं** मे इन्द्र के पराक्रम का वर्णन होने से इन्द्र इसका देव है। इसी प्रकार अन्तरिक्षस्थानीय एवं

1 बृहद्देवता 5/102
2 बृहद्देवता 4/11

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

द्युस्थानीय देवों का विवेचन आगे अध्यायों में किया जाएगा, परन्तु अनेक मन्त्रों के देवता किसी पदार्थ-विशेष के नाम पर न होकर मन्त्र के वर्ण्य-विषय के आधार पर होते हैं जैसे 'भाववृत्तदेवता' जिन मन्त्रों में सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन है, उन मन्त्रों का देवता 'भाववृत्त' कहा गया है, जैसे ऋ.मण्डल 10 के 190 में सूक्त में सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन होने इन तीनों मन्त्रों का देवता भाववृत्त कहा गया है-

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः।।[1]
समुद्रादर्णवादधि सम्वत्सरोऽजायत।
अहो रात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी।।[2]
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।।[3]

इसी प्रकार ऋग्वेद के दशम मण्डल के 145 वें सूक्त का देवता 'सपत्नीवाधनम्' है। इस सूक्त में सपत्नी (सौत) द्वारा बाधा पहुंचाने से बचने के उपायों का वर्णन होने से इस सूक्त का देवता 'सपत्नी-बाधनम्' है। उदाहरण-

इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं वाधते यया संविन्दते पतिम्।।[4]

अर्थात् (मैं) इस अत्यन्त बलवर्द्धक तथा निरोधात्मक ओषधि को खोदती हूँ, जिसके द्वारा सौत बाधित होती है तथा जिसके द्वारा पति भली प्रकार प्राप्त होता है अर्थात् वश में रहता है। एक और मन्त्र इसी सूक्त का देखिए

अहमस्मि सहमानाऽथत्वमसि सासहिः।
उभे सासही भूत्वा सपत्नी मे सहावहै।।[5]

1 ऋ. 10/190/01
2 ऋ. 10/190/2
3 ऋ. 10/190/3
4 ऋ. 10/145/01
5 ऋ. 10/145/05

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अर्थात् मैं (पत्नी) सहनशील हूँ और हे ओषधि तुम बहुत शक्तिशालिनी हो। जिससे हम दोनों शक्तिशालिनी होकर मेरी सौत को सहन कर पाएँ या परास्त करें।

इस सूक्त में सौत के द्वारा पहुँचने वाली बाधा के निराकरण का उल्लेख होने से इस सूक्त का देवता सपत्नीबाधनम् है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के 117 वें सूक्त में धनान्नदान की प्रशंसा वर्णित है। धन और अन्न के दान की प्रशंसा के कारण इसका विषय ''धनान्नदानप्रशंसा' है। अतः यह विषय ही इसका देवता है। उदाहरण–

न सा सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्।।[1]

अर्थात् वह मित्र, मित्र नहीं, जो अपने पास रहने वाले या सेवा करने वाले मित्र को अन्न नहीं देता या भोजन तक नहीं कराता। ऐसा घर रहने योग्य नहीं, (जहाँ अपनों को भी भोजन न कराया जाता हो)। लोग ऐसे घर से दूर ही रहते हैं, अपितु यदि शत्रु भी भोजन से जिन्हें तृप्त करता है, लोग उसे स्वामी के तुल्य चाहते हैं।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।।[2]

अर्थात् ऐसा मूर्ख व्यक्ति व्यर्थ ही अन्न को प्राप्त करता है। मैं सच कहता हूँ, वह ऐसे व्यक्ति की मृत्यु ही है, जो न स्वयं को उस अन्न से पुष्ट करता है, और न अपने मित्रों को, ऐसा व्यक्ति (दान हीन व्यक्ति) जो अकेला अन्न को खाता है, वह पाप ही का भोग करता है।

गीताशास्त्र में भी केवल अपने लिए पकाकर खाने वाले को पापभुक् कहा है। उन्होंने दूसरों को खिलाकर खाने वाले को सब पापों से मुक्त कहा है–

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जन्ते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।[3]

1 ऋ. 101/117/4
2 ऋ. 10/117/6
3 गीता. 3/13

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

वस्तुतः देवत्व का मुख्यधर्म तो दान की भावना ही है। अतः धनान्नदान सूक्त में धनान्नदान प्रशंसा द्वारा देवत्व की स्थापना का सन्देश है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के 163 वें सूक्त में 'यक्ष्मनाशनम्' (रोग विनाश) या 'यक्ष्मघ्नम्' नामक देवता का उल्लेख है। वस्तुतः इस सूक्त के मन्त्रों में 'यक्ष्मा' (क्षयरोग) नामक रोग (संक्रमण) को दूर करने के विषय का उल्लेख होने से इसका देवता (विषय) 'यक्ष्मघ्न' है। इस सूक्त में शरीर के सभी अङ्गों से यक्ष्मा के संक्रमण को दूर करने की चर्चा है। जैसे–

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वया विवृहामि ते।।[1]

मैं तेरी आँखों से, नासिका से, कानों से, ठोड़ी से, शिर से, मस्तिष्क से और जिह्वा से यक्ष्मा (क्षय रोग) को भगाता हूँ।

इस सूक्त के सभी मन्त्रों में शरीर के सभी अङ्गों से यहाँ तक कि रोम से यक्ष्मा (क्षयरोग) को दूर करने का उल्लेख है। यही इस मन्त्र का विषय होने से 'यक्ष्मनाशनम्' इस सूक्त का देवता कहा गया है।

इसी प्रकार 'दुःस्वप्ननाशनम्' या 'दुःस्वप्नघ्नम्' ऋग्वेद के दशमण डल के 164 वें सूक्त का देवता कहा गया है। इसमें पापवृत्ति को मन से दूर हटाने की प्रार्थना का विषय होने से इसका देवता 'दुःस्वप्नघ्नम्' है। उदाहरण के लिए–

अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः।।[2]

अर्थात् हे मनसस्पति! मन के घेर लेने वाले पाप संकल्प! तू (अप एहि) दूर भाग जा (परश्चर) परे हट जा, (तू) (जीवतः मनः) जीवित प्राणी के मन को (बहुधा निर्ऋत्यै) बहुत प्रकार से पापवृत्ति में लगने हेतु (आचक्ष्व) बार बार कहता है। अतः (परः) तू मेरे मन से दूर हो।

1 ऋ. 10/163/1
2 ऋ. 10/164/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

इसी प्रकार ऋग्वेद दशम मण्डल के अट्ठानवें सूक्त में दूर-दूर तक जाने वाले चञ्चल मन को पुनः आवर्तित (लौटाने) के लिए प्रार्थना होने से इस सूक्त का विषय (देवता) 'मन आवर्तनम्' कहा गया है। इसके उदाहरण स्वरूप कतिपय मन्त्र प्रस्तुत हैं-

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।[1]

यह तेरा (वैवश्वतं यमं मनः) विविध लोकलोकान्तरों को स्वयं में नियन्त्रित करने वाला (दूरकं जगाम) दूर दूर तक जाता है। वह (क्षयाय जीवसे) यहाँ रहने तथा जीवन लाभ के लिए (आवर्त्तयामसि) पुनः लौटाते हैं।

यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनो जगाम दूरकम्।
तत्र आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।[2]

जो यह तेरा मन आकाश से पृथिवी तक दूर-दूर जाता है, वह यहाँ रहने एवं जीवन लाभ के लिए पुनः लौटाते हैं।

ऋग्वेद दशम मण्डल के 155 सूक्त में दुर्भिक्ष (अलक्ष्मी) के नाश हेतु प्रार्थनाएँ होने से इसका विषय या देवता अलक्ष्मीनाशनम् (अलक्ष्मीध्नम्) है। एक मन्त्र का उदाहरण प्रस्तुत है-

अरायि काणे विकटे गिरि गच्छ सदान्वे।
शिरिम्बिष्ठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि।।[3]

हे (अरायि काणे) अनैश्वर्य की कारिका अदातृभावरूपा तथा अदृश्य अर्थात् दिखाई न देने वाली (विकटे सुदान्वे) भयङ्कररूपा तथा सदा आक्रोश रूपा अलक्ष्मी, (त्वं गिरिं गच्छ) तू पर्वत को जा अर्थात् परे हट। (शिरिम्बिष्ठस्य) आकाश में स्वयं छिन्न-भिन्न होने वाले मेघ (तेभिः सत्वभिः) उन अनेक बलों से (त्वा) तुझको अर्थात् दुर्भिक्ष वृत्ति को (चातयामसि) नष्ट करें।

---

1 ऋ. 10/58/1
2 ऋ. 10/58/2
3 ऋ. 10/155/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

इस प्रकार के और अनेक विषय जैसे 'राज्ञः स्तुतिः'[1] ग्रावाणदेवता (उपदेशकर्ता)[2], 'गावो देवता' (गौएँ)[3], 'कपोपहतौ', 'प्रायश्चित्तं' 'वैश्वदेव' (दूतनाशहेतु प्रायश्चित्त),[4] 'गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम्', (गर्भनाश करने वाले रोग के नाश हेतु प्रार्थना)[5], 'राजयक्ष्मा' (तपैदिक) (रोग नाश हेतु प्रयत्न और प्रार्थना)[6], रूप देवताओं का उल्लेख ऋग्वेद में विषयों के रूप में हुआ है, जिन्हें हम पृथिवीस्थानीय देवों (विषयों) में गिन सकते हैं, क्योंकि ये समस्त विषय पार्थिव प्राणियों से सम्बन्धित हैं। यह आवश्यक भी नहीं है कि निरुक्त-कार के त्रिधा विभाजन में सभी देवताओं की गणना की जाए क्योंकि ये सूक्त-गत मन्त्रों के विषय होने के कारण ही देवताओं में परिगणित किए गए हैं।

---

1 ऋ. 10/174/1-5, 10/173/1-6
2 ऋ. 10/169/1-4
3 ऋ. 10/175/1-4
4 ऋ. 10/165/1-5
5 ऋ. 10/162/1-6
6 ऋ. 10/161/1-5

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

षष्ठ अध्याय

अन्तरिक्षस्थानीय देवगण

द्युलोक और पृथिवी के बीच के स्थान को अन्तरिक्ष माना गया है। निरुक्तकार ने अन्तरिक्ष शब्द के दो निर्वचन किए हैं-

अन्तरिक्षं कस्मात्? अन्तरा क्षान्तं भवति। अन्तरेमे (क्षियति) इति वा।[1]

. निरुक्तकार का प्रथम निर्वचन है- "अन्तरा क्षान्तं भवति।" इस निर्वचन के भी दो अर्थ हैं।

(1) (क) जो द्युलोक और पृथिवी के बीच में क्षान्त (प्राप्त) है।[2]

(ख) आचार्य स्कन्दस्वामी कहते हैं- बीच में शान्त या निष्क्रिय स्थान का नाम अन्तरिक्ष है।[3]

(2) दूसरा निर्वचन है "अन्तरेमे क्षियति इति"। ये दोनों पृथिवी और द्युलोक जिसके बीच में निवास करते हैं।

निरुक्त में अन्तरिक्षस्थानीय देवों में वायु और इन्द्र को प्रतिनिधि देवो के रूप में स्वीकार किया है।[4]

वृहद्देवता में भी द्वितीय अर्थात् मध्यमस्थानीय या अन्तरिक्षस्थानीय देवों में ये वायु और इन्द्र को ही प्रधान देव माना है।

प्रथमो भजते त्वासां वर्गोऽग्निमिह दैवतम्।
द्वितीयो वायुमिन्द्रं वा तृतीयः सूर्यमेव च।।[5]

---

1 नि. 2/10

2 अन्तराहीदं द्यावा पृथिव्योरवस्थितं क्षान्तं क्षमाप्रापितञ्च भवति सर्व सहत्वात्। नि.दुर्ग. ऋज्वर्थ.

3 स्कन्दस्वामिस्तु-अन्तरा मध्ये सर्वभूतानां क्षान्तं शान्तं निष्क्रियं वां. ष्टान्तसमूहं विष्कम्भ स्थ. ानात्मकमित्ति। नि. 2/10 स्कन्द. वृत्ति. पृ. 81

4 वायुर्वेन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः। नि. 7/5

Funding by IKS-MoE

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बृहद्देवता में त्रिस्थानीय देवों को त्रिवर्ग में विभाजित किया गया है। अतः इस श्लोक में कहा गया है कि देवों का प्रथमवर्ग (पृथिवीस्थानीय) अग्नि देवता के अन्तर्गत, द्वितीय वर्ग (अन्तरिक्षस्थानीय) वायु अथवा इन्द्र के देवता अन्तर्गत एवं तृतीय वर्ग (द्युस्थानीय) सूर्य देवता के अन्तर्गत आता है।

जैसा कि बृहद्देवता के आचार्य शौनक और आचार्य यास्क दोनों ही ने अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं में वायु व इन्द्र को प्रमुख स्थान दिया है।

अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास् तिस्र एवेह देवताः॥[1]

अर्थात् इस (पृथिवी) लोक में अग्नि, मध्यलोक (अन्तरिक्ष) में वायु और इन्द्र तथा दिव्य (द्यु) लोक में सूर्य, यहां तीन ही देवता मानने चाहिए। अतः सर्व प्रथम अन्तरिक्षस्थानीय देवों में इन्हीं का विश्लेषण प्रस्तुत है।

वायु

वायु पृथिवी से लेकर द्युलोक पर्यन्त पूरे अन्तरिक्ष में व्याप्त होने से यह अन्तरिक्षस्थानीय देवों में प्रमुख माना गया है।

वायु शब्द √ वा गतिगन्धनयोः धातु से **कृवापाजिमि स्वादिसाध्य शूभ्य उण्** इस औणादिक सूत्र से उण् प्रत्यय लगकर "अतो युक् चिण कृते" सूत्र से युक् आगम होकर वायु शब्द सिद्ध होता है। जिसके दो अर्थ वृत्तिकार ने किए है– 'एक पवन और दूसरा परमेश्वर।'[2] स्वामी दयानन्द वृत्ति में स्वामी जी लिखते हैं–

वाति गच्छति जानाति वेति वायुः पवनः परमेश्वरो वा।[3]

निरुक्तकार ने वायु शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है–

वायुः वातेर्वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः। एतेरिति स्यौलष्ठीविरनर्थको वकारः। तस्यैषा भवति।[4]

---

1 बृह. 1/69
2 वायुः पवनः परमेश्वरो वा। उणा. 1/1
3 उणा. 1/1 दया. वृत्ति.
4 नि. 10/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

उपर्युक्त निर्वचन में आचार्य यास्क ने वायु शब्द के तीन भाव व्यक्त किए हैं, जिनमें दो उनके अपने हैं तथा एक ऋषि स्थौष्ठीवि का है।

(1) **वायुः वातेः** – वायु वहने से है, अर्थात् वहता है, गतिशील है, जिसमें समीरण है, वह वायु है। वेद में इस निर्वचन के आधार हेतु बहुत से मन्त्र उपलब्ध हैं। गत्यर्थक निर्वचन वाला ऋग्वेद का मन्त्र प्रस्तुत है–

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे।।[1]

अर्थात् हे वायु! तू ओषधिरूप होकर वह (चल) एवं तू (यद्रपः) दोषों अर्थात् रोगों को (विवाहि) दूर ले जा। तुम तो सम्पूर्ण ओषधि हो, तुम देवों के दूत हो, तुम गतिशील हो।

इस मन्त्र में वायु के शब्द–निर्वचन व अर्थ–निर्वचन दोनों ही उपलब्ध हैं। इसमें 'वात' कर्ता पद का वाहि क्रिया पद से प्रत्यक्ष शब्द–निर्वचन किया गया है तथा 'देवानां दूत ईयसे' वाक्य से परोक्ष रूप से अर्थ निर्वचन भी प्राप्त है। गतिशील देवदूत होने से √ वा गत्यर्थक अर्थनिर्वचन संकेतित है।

(2) **वेतेर्वा**– निरुक्तकार का दूसरा निर्वचन भी गति अर्थवाली धातु से सम्बन्धित है। 'वेति' क्रियापद से √ वी गति प्रजननकान्त्यसनखादनेषु अर्थ वाली धातु से 'उणि' प्रत्यय एवं वृद्धि तथा अयादेश होकर वायुः शब्द बनता है। इसका अर्थ भी चलना या बहना है।

(3) **एतेः इति वायुः** – यह तीसरा निर्वचन आचार्य स्थौलष्ठीवि का है। इसमें वकार को निरर्थक मानकर √ इण् गतौ धातु से 'छन्दसीणः' सूत्र से उण् प्रत्यय लगकर वृद्धि, अयादेश होकर 'आयुः' शब्द बनेगा, जो गति का वाचक है। स्थौलष्ठीवि के मत में आयु शब्द ही वायु का वाचक है, जिसका अर्थ गति है, अर्थात् जो एति चलता है, गति करता है, वह आयु ही वायु है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के द्वितीय सूक्त में ही वायु देवता का स्वरूप वर्णित है।

1 ऋ. 10/137/3

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

वायवा याहि दर्शते मे सोमा अरङ्कृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम्।।[1]

इस मन्त्र के भाष्यकारों ने दो प्रकार के भाव प्रकट किए हैं। एक आध्यात्मिक तथा दूसरा भौतिक।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण–

हे दर्शनीय वायु अर्थात् परमेश्वर! अपने ज्ञान तथा गति से बुराईयों का ध्वंस करने वाले तथा 'वेत्ति सर्व जगत् सः वायुः परमेश्वरः' अर्थात् वह सब का कर्त्ता होने से उसका ज्ञाता है, ऐसे वायु रूपी परमेश्वर! आप (आयाहि) आइए, मेरे हृदय में विराजिए। (इमे सोमा अरङ्कृताः) ये संसार के सकल सोम (पदार्थ) आपके स्वरूप को अलङ्कृत कर रहे हैं। आप इन सोमों की रक्षा करो, इसीलिए हम आपको (वायु रूप परमेश्वर को पुकारते हैं।)

भौतिक दृष्टिकोण–

हे वायु देव! सकल जगत के प्राण! आप दर्शनीय हैं, आप आइये तथा मेरे शरीर को (जीवन में) गति प्रदान कीजिए। क्योंकि ये सकल (सोम) पदार्थ आप से ही तो अलङ्कृत हैं। आप इन सकल सोमों (पदार्थों) की रक्षा करो। आप हमारी (हवम् श्रुधी) प्रार्थनाओं को सुनो व स्वीकार करो।

भावार्थ का सार–

हम सब, सर्वत्र गतिमान, सर्वज्ञ वायु–रूप प्रभु की कृपा से अथवा प्राणरूप वायु से गतिमान हैं, जीवित हैं। अतः जगत् व अपने जीवन की रक्षा के लिए आपका आवाहन करते हैं।

निरुक्तकार ने वायु के स्वरूप–निरूपण में इस मन्त्र का उल्लेख किया है।[2]

ऋग्वेद के दशम मण्डल के 137 वें सूक्त में वायु के द्विविध स्वरूप का विवेचन किया गया है–

1 1/2/1
2 नि. 10/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

द्वामिमौ वातो वात आसिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आवातु परान्ये वात यद्रपः॥[1]

(द्वामिमौ वातौ वातः) ये दो प्रकार के वायु प्रवाहित होते हैं। एक (आसिन्धोः) समुद्र के छोर से, तथा दूसरा (आपरावतः) ऊँचे पर्वत से। इनमें से (अन्य दक्षम्) एक बल या दक्षता प्रदान करे और (परान्यः यद्रपः वातु) दूसरा मल (दोषों) को दूर भगाए। अर्थात् वायु दो प्रकार का है, एक प्राण और एक अपान। प्राण बल प्रदान करता है, तथा अपान शरीर के दोषों को बाहर निकालता है। ऋग्वेद प्रथममण्डल के सूक्त 89 में वायु को कल्याणप्रद ओषधि का कारक कहा है।

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।[2]

(तत् वातः नः मयोभु भेषजं वातु) वह वायु हमें कल्याण ाकारी औषध को प्राप्त कराए। इसी प्रकार वह पृथिवी एवं सूर्य भी कल्याणप्रद औषध को प्राप्त कराएँ।

ऋग्वेद प्रथममण्डल के 28 वें सूक्त में वायु को वनस्पतियों का बढ़ाने वाला बताया है।

उत स्म ते वनस्पते वातो विवात्यग्रमित्।[3]

हे वनस्पते! यह वायु (ते अग्रमित् विवाति) तुझे आगे को ले जाता है, अर्थात् तुझे बढ़ाता है या समृद्ध करता है। वस्तुतः वायु (प्राण) ओषधि या वनस्पति की समृद्धि का कारक होता है। इसमें (अग्रमित्) विवाति क्रिया पद से 'वातः' का निर्वचन किया गया है।

यजुर्वेद में वायु को पावन करने वाला बताया गया है-

शंनो वातः पवतां शंनस्तपतु सूर्यः।[4]

(वातः नः शं पवतां) वायु हमें शान्ति देने वाला तथा पवित्र करने वाला हो। यहाँ पवतां क्रिया पद से वायु का अर्थ निर्वचन किया गया है। √ पूञ्+पवने

---

1 ऋ. 10/137/2
2 ऋ. 1/89/4
3 ऋ. 1/28/6
4 यजु. 36/10

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh

धातु से पवतां क्रिया की सिद्धि होगी। जिससे वायु का पर्यायवाची पवन शब्द भी सिद्ध होता है। जो अर्थ निर्वचन का संकेतक है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में तथा वेदभाष्यों में वायु शब्द की अनेक निरुक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, जो कहीं भौतिक वायु (पवन) तथा कहीं परमशक्तिमान् परमेश्वर की वाचिका हैं, तथा कहीं कहीं उभयार्थ की प्रतिपादिका हैं।

(क) वायु की परमेश्वर अर्थ वाली निरुक्तियाँ –

(1) यो वाति चराऽचरञ्जगद्धरति बलिनां बलिष्ठः स वायुः।[1]

जो चर और अचर अर्थात् स्थावर और जङ्गम जगत् को धारण करता है तथा बलवानों से भी बलवान् है, इससे उस परमेश्वर का नाम वायु है।

(2) यो वाति जानाति धारयति अनन्तबलत्वात् सर्व जगत् स वायुः।[2]

जो अपने अनन्त बल से सब जगत् को जानता व धारण करता है, वह वायु परमेश्वर है।

(3) वायो वाति जानाति सूचयति सदसत्पदार्थान् इति वा वायुस्तत्‌ सम्बुद्धौ।[3]

यहाँ वायो! सम्बोधन का रूप है। जो सद् और असद् पदार्थों को जानता है व सूचित करता है, वह वायु है। इस निरुक्ति में भौतिक और आध्यात्मिक दोनों भाव निहित हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध का सूचक होने से भौतिक वायु का तथा सद् और असद् का ज्ञाता होने से परमेश्वर का वाचक है।

(ख) वायु की भौतिक अर्थ वाली निरुक्तियाँ

(1) यो वाति सः वायुः।[4]

जो वहता या चलता है, वह वायु है।

1 स.प्र.प्र.स. (स्वामी दया.)
2 ऋ. भा.भू. (सन्ध्योपासना प्रकरण) (स्वा.दया.)
3 यजु. 6/16 (स्वा. दया. भाष्य)
4 ऋ. 6/4/5

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

(2) योऽयं भौतिको वायुः।[1]

जो यह भौतिक गति करता है, वह वायु है।

(ग) उभयार्थक निरुक्तियाँ –

वाति सोऽयं वायुः। सर्वगतत्वादीश्वरो गतिमत्वाद् भौतिकोऽपि गृह्यन्ते वेत्ति सर्वं जगत्स वायुः परमेश्वरोऽस्ति तस्य सर्वज्ञत्वात्। मनुष्यो येन वायुना तन्नियमेन प्राणायामेन वा परमेश्वरं शिल्पविद्यामयं यज्ञं वा वेत्ति जानाति इत्यर्थेन भौतिको वायुर्गृह्यते।[2]

अर्थात् जो गतिशील है, वह वायु है। सब पदार्थों में विद्यमान या सर्वत्र गतिमान् होने से वह ईश्वर का वाचक है, तथा गतिमान् होने से भौतिक वायु का भी वाचक है। जो सब जगत् को जानता है, वह वायु परमेश्वर कहलाता है, क्योंकि वह सर्वज्ञ होने से सर्वत्र गतिमान् है। मनुष्य जिस वायु (प्राण) के नियमन (प्राणायाम) से परमेश्वर अथवा शिल्प विद्यारूपयज्ञ को जानता है, अतः इस दृष्टिकोण से भौतिक वायु भी इसका अर्थ ग्रहण किया जाता है।

गोपथ ब्राह्मण में 'वात' शब्द के दो निर्वचन किए गए है। दोनों ही निर्वचन √ वा गति गन्धनयोः धात्वर्थ वाले हैं।

(1) न कुतश्चन वायो वायात्।[3]

अर्थात् वायु कहीं से न वहे।

(2) वात आवातु भेषजम्।[4]

वायु औषध लेकर आए।

गोपथ ब्राह्मण में ही 'वात' का एक अर्थ निर्वचन भी प्राप्त होता है। 'वातो वहति'[5] √ वह प्रापणे धातु का प्रयोग √ वा धातु के अर्थ में किया गया है। जो स्वतः प्राप्त है, वह वायु है।

---

1 यजु. 1/16
2 ऋ.भा. (स्वा.दया.) शताब्दी संस्करण सम्पा. युधिष्ठिर मीमां. पृ. 460
3 गो.ब्रा. (पूर्व.) 3/13
4 गो.ब्रा. (पूर्व.) 3/13
5 गो.ब्रा. (पूर्व.) 2/4

Funding by IKS-MoE

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जैमिनीय ब्राह्मण में 'वायु' शब्द की निरुक्ति √ यु मिश्रणामिश्रणयोः धातु से की गई है।

यदिदं सर्वं युते तस्मात् वायुः।[1]

अर्थात् जो सब को जोड़ता है या जो सबसे जुड़ता है, वह 'वायु' है।

मैत्रायणी संहिता में वायु को अग्नि का तेज कहकर वायु को अग्नि का पूरक (सहायक) देवता कहा गया है।

वायुर्वा अग्नेस्तेजसस्तमाद् वायुमग्निरन्वेति।[2]

अर्थात् वायु अग्नि का तेज है, इसलिए अग्नि वायु का अनुगमन करता है। अग्नि में दी गई आहुति को अग्नि वायु को सौंपता है। वह उस आहुति को लक्ष्य तक पहुँचाता है। अतः दोनों देवता एक दूसरे के पूरक हैं। इसीलिए वायु को अग्नि का तेज (शक्ति) कहा है। अग्नि की तेजस्विता वायु के अभाव में सम्भव नहीं है। इसीलिए ऑक्सीजन वायु (प्राण) के अभाव में अग्नि प्रज्वलित नहीं रह पाती है।

इन्द्र

अन्तरिक्षस्थानीय देवों में इन्द्र को वायु के समतुल्य स्थान दिया गया है। ऋग्वेद के देवसूक्तों में सर्वाधिक सूक्त 'इन्द्र' देवता के हैं। ऋग्वेद में इन्द्र देवता से सम्बन्धित 250 सूक्त हैं। अन्य देवों के साथ 'इन्द्र' की स्तुति के भी लगभग 50 सूक्त हैं। इन्द्र के सर्वाधिक पर्यायवाची शब्द ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। वैदिक शोधकर्त्ताओं के अनुसार वेद में इन्द्र के 250 पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग मिलता है, जिनमें इन्द्र शब्द के अलावा वज्री, सोमपा, शक्र, मघवा, पुरूहूत, शतक्रतु, हरिकेश, सुतपा, शचीपति, शवसस्पति, पुरन्दर, वृत्रहा; शविष्ठ, मंहिष्ठ, युवासखा, हिरण्यय, महावीर, मदच्युत, शतहव्य, पाञ्चजन्य आदि प्रमुख हैं। ऋग्वेद में इन्द्र शक्ति का देवता माना गया है। जो भी शक्ति से सम्बन्धित कार्य हैं, वे सब इन्द्र के कार्य माने गए हैं–

1 जै.ब्रा. 2/56
2 मै.सं. 3/1/10

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्[1]

वैदिककालीन समाज का 'इन्द्र' राष्ट्रीय देवता है। इन्द्र को पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युस्थानीय देवों में सर्वाधिक शक्तिशाली व बड़ा माना गया है।

प्रमात्राभीरिरिचे रोचमानः प्रदेवेभिः विश्वतो अप्रतीतः।
प्रमज्मना दिव इन्द्र पृथिव्याः प्रोरोर्महो अन्तरिक्षादृजीषी।।[2]

अर्थात् हे इन्द्र! तुम (दिवे प्ररिरिचे) द्युलोक में सबसे बढ़कर हो, (पृथिव्याः प्ररिरिचे) पृथिवी लोक के सब देवों से बढ़कर हो, (अन्तरिक्षात् उरो महः प्ररिरिचे) बड़े अन्तरिक्ष के देवों (वायु आदि) से तुम अधिक सामर्थ्यवान् हो।

'इन्द्र' शब्द का प्रयोग वेद में परमेश्वर, जीवात्मा, सूर्य, राजा एवं सामर्थ्यशाली देव के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यथाप्रसङ्ग इस के प्रमाण में वेद-मन्त्रों का उल्लेख किया जाएगा। पहले निरुक्तकार के दृष्टिकोण का विश्लेषण प्रस्तुत है। महर्षि यास्क ने इन्द्र के अधः प्रदत्त निर्वचन निरुक्त में प्रस्तुत किए है, जिनमें कुछ अन्य आचार्यों के निर्वचन भी हैं।

इन्द्र इरां दृणातीति वा, इरां ददातीति वा, इरां दधातीति वा, इरां दारयत इति वा, इरां धारयत इति वा।।

इन्दवे द्रवतीति वा, इन्दौ रमत इति वा।। इन्धे भूतानीति वा। तद्यदेनं प्राणैः समैन्धतस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वमिति विज्ञायते।।

इदं करणादित्याग्रायणः।। इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः।। इन्दतेर्वा ऐश्वर्य. कर्मणः। इन्द्रञ्छत्रूणां दारयिता वा, द्रावयिता वाऽऽदरयिता च यज्वनाम्।।[3]

(1) इन्द्र इरां दृणातीति वा

इरा कहते हैं– व्रीहि आदि अन्न को, अर्थात् जो अन्न को विदीर्ण करता है, वह इन्द्र है। यह निरुक्ति परमेश्वर और सूर्य दोनों ही अर्थों की प्रतिपादिका है, क्योंकि जब हम अन्न (बीज) को भूमि मे बोते हैं,

1 नि. 7/3/10
2 ऋ. 3/46/3
3 नि. 10/1/10

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

तब कुछ काल बाद सूर्य की ऊष्मा से वह बीज अंकुरित (विदीर्ण) होता है। अतः सूर्य, इन्द्र है। परमात्मा की शक्ति के बिना तो सूर्य में ऊर्जा (ऊष्मा) भी नहीं हो सकती है, जैसा कि उपनिषद् में कहा गया है कि– **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।** अर्थात् परमेश्वर के प्रकाश से सब सूर्यादि प्रकाशित हैं। अतः वह परमेश्वर ही मूलतः बीज के अङ्कुरण का हेतु है।

(2) इरां ददाति इति वा–

जो इरा (अन्न) को देता है, वह इन्द्र है। अर्थात् सूर्य तथा परमेश्वर जो वृद्धि आदि का कारण होने से अन्न को देने वाले हैं। अतः सूर्य तथा परमेश्वर इन्द्र है।

(3) इरां दधाति इति वा–

जो अन्न को धारण या पोषण करता है, वह इन्द्र है। यह निर्वचन भी सूर्य तथा परमेश्वर का प्रतिपादक है, क्योंकि सूर्य तो प्रत्यक्षतः अपनी ऊर्जा (ऊष्मा) से अन्नादि को पकाने के हेतु से अन्न का धारक है ही, परमेश्वर भी सबका धारक होने से इन्द्र है।

(4) इरां दारयत इति वा–

जो अन्नों को विदीर्ण करता है। 'दारयते' क्रिया पद भी √ दृ विदारणे धात्वर्थ वाला है। यहाँ भी अङ्कुरण का भाव ही ग्राह्य है।

(5) इरां धारयति इति वा–

जो अन्नों को धारण करता है, वह इन्द्र है। ये सभी सूर्यार्थक निर्वचन हैं। सूर्य से ही अन्न–ओषधि आदि जीवन्त रहते हैं। अतः वही इनका धारणकर्ता हैं। दूसरे आध्यात्मिक दृष्टि से ये सभी निर्वचन परमात्मा के वाचक हैं, क्योंकि परमेश्वर ही मूल रूप से सबका धारक है। इसीलिए तैत्तिरीय उपनिषद् में परमेश्वर (ब्रह्म) को सकल संसार का उत्पत्ति कर्ता, स्थितिकर्ता (धारण कर्ता) एवं संहारकर्ता कहा है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति, तद् ब्रह्म लक्षणं वदविजिज्ञासस्व।[1]

Funding by IKS-MoE

1 तैत्ति. उप.भृगु. बल्ली. पृ.अनु. ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

(6) इन्दवे द्रवति इति वा।

इन्दु अर्थात् चन्द्रमा, जो चन्द्रमा के लिए गति करता है, अर्थात् जो चन्द्रमा में रमण करता है, वह इन्द्र है।

चूंकि चन्द्रमा में सूर्य का ही प्रकाश है, अतः सूर्य चन्द्रमा में अपने प्रकाश से रमण करता है अर्थात् सूर्य ही इन्द्र है। दुर्गाचार्य निरुक्त के टीकाकार इसका एक अन्य भाव प्रकट करते हैं–

इन्दुः सोमः तमुद्दिश्य (तं पातुं) असौ द्रवति गच्छतीति इन्दु द्रवः इन्द्रः।[1] अर्थात् इन्दु नाम सोम का है, उस सोम को पीने के लिए जो जाता है, वह (इन्दुद्रव) इन्द्र है।

(7) इन्दौ रमत इति वा।

जो इन्दु अर्थात् चन्द्रमा में रमण करता है, वह इन्द्र है। दुर्गाचार्य इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं–

अतिप्रियत्वात् इन्दौ सोमे रमत इति इन्दुरमः सन्निन्द्र इत्युच्यते।[2]

अर्थात् अतिप्रिय होने से जो इन्दु अर्थात् चन्द्रमा में रमण करता है, वह 'इन्दुरम' इन्द्र कहलाता है।

(8) इन्धे भूतानि इति वा। तद्यदेनं प्राणैः समैन्धन् तदिन्द्रस्येन्द्रत्वमिति विज्ञायते।

जो प्राणियों को प्रकाशित करता है, वह इन्द्र है। इसकी व्याख्या में निरुक्तकार स्वयं लिखते हैं- कि यह अन्नादि की उत्पत्ति से प्राणियों के जीवन और व्यवहारों को द्युतिमान् (प्रकाशमान्) करने से इन्द्र है। इसी प्रकार प्राणरूप से शरीर के भीतर और बाहर की क्रियाओं का प्रेरक होने यह इन्द्र है। यह निर्वचन भी सूर्य और ईश्वर उभयार्थ का वाचक है।

(9) इदं करणादिति आग्रायणः।

यह निर्वचन आग्रायण ऋषि का है। यह सब करने की सामर्थ्य वाला होने वह इन्द्र है। **इदं करोति इति इदङ्करः इन्द्रः।** यह निर्वचन

---

1 नि. ऋज्यर्थ टीका पृ. 436 चौ.सं.प्र.

2 नि.ऋ.टी.पृ. 436 चौ.सं.प्र.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की ओर संकेत करता है। इन्द्र सब करने की शक्ति रखने वाले परमेश्वर का नाम है।

(10) इदं दर्शनादिति औपमन्यवः।

यह मत या निर्वचन औपमन्यवों का है। जिसका अभिप्राय है कि जो इस सब जगत् का प्रत्यक्षदर्शी है, सर्व द्रष्टा है। इस निर्वचन का संकेत भी सर्वद्रष्टा परमेश्वर रूपी इन्द्र की ओर है।

(11) इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः।

जो परम-ऐश्वर्य का स्वामी है, वह इन्द्र परमेश्वर है। वेद में परमेश्वर को सकल ऐश्वर्य का स्वामी बताने वाले अनेक मन्त्र हैं। जैसे-

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं धामु तेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।[1]

जो ईश्वर स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करने वाले सूर्य चन्द्रादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किए हैं, जो उत्पन्न हुए सकल जगत् का स्वामी है। जिसने पृथिवी तथा द्युलोक को धारण किया है, अर्थात् सकल ऐश्वर्य का स्वामी है। उस सुखस्वरूप परमेश्वर की विशेष हवि से भक्ति किया करें।

(12) इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा।

जो शत्रुओं को विदीर्ण (विनष्ट) करने वाला है, वह ईश्वर इन्द्र कहलाता है। √ इदि परमैश्वेर्य एवं √ दृ विदारणे धात्वर्थक निर्वचन है। इसका एक भाव अहि (वादल) को विदीर्ण कर वृष्टि करने वाला सूर्य भी है। यहाँ √ इन्धी दीप्तौ + दृ विदारणे धात्वर्थ अभिप्रेत है।

(13) इन्दञ्छत्रूणां द्रावयिता वा।

जो शत्रुओं की गतिविधियों तक पहुंचने वाला तथा उन्हें द्रवीभूत (छिन्न-भिन्न) करने वाला है। वह परमेश्वर या सूर्य इन्द्र कहलाता है। यहाँ भी √ इदि परमैश्वर्ये + द्रु गतौ अथवा √ इन्धी दीप्तौ – द्रु हिंसायाम् धात्वर्थ अभिप्रेत है।

Funding by IKS-MoE

1 यजु. 13/4, ऋ. 10/121/1

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

(14) इन्दञ्छत्रूणां आदरयिता च यज्वनाम्।

इस निर्वचन में 'आदरयिता' पद उभयार्थक है।

(1) पहला- जो ईश्वर शत्रुओं का आ (समन्तात्) चारों ओर से दारयिता (विदारक) है, वह इन्द्र है। आ + √ दृ विदारणे।

(2) दूसरा- जो इन्दन् (ईश्वर) आ (समन्तात्) √ दृङ् आदरे (यज्वनाम्) यज्ञकर्ताओं का आदर करने वाला है, वह इन्द्र है।

उपर्युक्त सभी निर्वचनों का मूल वेद के मन्त्रों में भिन्न-भिन्न सूक्तों में उपलब्ध है, जिसका विस्तृत विवेचन मेंने अपने ग्रन्थ ऋग्वेदीय-निर्वचन में किया है। उदाहरण के लिए- संकेत रूप में कुछ मन्त्र यहाँ उद्धृत हैं।

'इन्दु' शब्द से इन्द्र के निर्वचन जो कि यास्क के इन्दौ रमते का आधार है, निम्न मन्त्र में उपलब्ध है।

उत त्या हरितो दश सूरो अयुक्त यातवे।
इन्दुरिन्द्र इति ब्रुवन्॥[1]

इन्दु ही इन्द्र है, ऐसा बोलता हुआ (अर्थात् वह इन्दु परमैश्वर्यवान् ईश्वर ही इन्द्र है) (यातवे) अपनी यात्रा के लिए (त्या हरितः) उन पाप वृत्तियों को हरने वाली (दशसूरः) दश प्रकार की वृत्तियों को (अयुक्तः) जोड़ता है अर्थात् परमेश्वर से जोड़ता है, वही ब्रह्मानन्द को पाता है। एक और मन्त्र इन्द्र के लिए इन्दु शब्द के प्रयोग उपस्थित है।

पवस्व देववीरति पवित्रं सोम रंह्या।
इन्द्रमिन्दो वृषा विश॥[2]

हे इन्दु-रूपी इन्द्र! हे सोम्य स्वभाव! तुम दिव्य गुण युक्त हो। अतः हमे (रंह्या) शीघ्र ही (पवस्व) पवित्र करो तथा हमारे हृदय में (विश) प्रवेश करो अर्थात् विराजमान होओ।

इन्दु अर्थ में इन्द्र के प्रयोग का एक और उदाहरण ऋग्वेद के नवम मण्डल के मन्त्र में उपलब्ध है।

---

1 ऋ. 9/63/9
2 ऋ. 9/2/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

य इन्दोः पवमानस्यानु धामान्यक्रमीत्।

तमाहुः सुप्रजा इति यस्ते सोमाविधन्मन इन्द्रायेन्दो परिश्रव।।[1]

(यः पवमानस्य इन्दोः) जो पवित्र करने वाले प्रकाशस्वरूप प्रभु के (धामानि अनु अक्रमीत्) धामों (ज्ञान कर्म और उपासना रूप कर्मों) का भलीभाँति अनुष्ठान करता है। (तं) उसको सुप्रजा कहा जाता है। हे सोम! (यः ते मनः अविद्यत्) जो तेरे में मन लगाता है, वह इन्द्ररूपी इन्दु आप (हमारे) हृदय में व्याप्त हो।

इसी प्रकार **इन्द्रियाणाम् अधिष्ठाता इन्द्रः** (जीवात्मा) इस अर्थ की अभिव्यक्ति वाले मन्त्र भी वेद में उपलब्ध है।

मयीदमिन्द्रऽइन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्।।[2]

अर्थात् हे इन्द्र (इन्द्रियों के अधिष्ठाता) आप (मयि) मुझमें (इन्द्रियं दधातु) इन्द्रियों की शक्ति को धारण करें।

इसी प्रकार यजुर्वेद में सरस्वती से इन्द्र के लिए इन्द्रियों के बल की कामना की गई है।

यऽइन्द्रऽइन्द्रियं दधुः सविता वरुणो भगः।[3]

(सविता) सकल जगत् के उत्पादक (वरुणः) वरणीय (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यशाली इन्द्र ने (इन्द्रियं भगः दधुः) इन्द्रियों की शक्ति को (तेज को) धारण किया है।

शतपथ ब्राह्मण में भी इन्द्र को इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मा के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

इन्द्रस्येन्द्रियेण त्वाभिषिञ्चामि।[4]

शतपथ ब्राह्मण में यजमान को आशीर्वाद देते हुए ब्रह्मा कहता है– "हे यजमान! मैं तुझे इन्द्र के इन्द्रिय बल से अभिषिक्त करता हूँ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में तो स्पष्टतः यह कहा गया है कि वह इन्द्र इन्द्रियों के बल के कारण ही है। अर्थात् वह इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने से ही इन्द्र है।

1 ऋ. 9/1/4/1
2 यजु. 2/10
3 यजु. 20/70
4 श.प.ब्रा. 5/4/2/2

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अस्मिन् वा इदमिन्द्र यं प्रत्यस्थादिति। तदिन्द्रस्येन्द्रियत्वम्।

अर्थात् इसमें (इन्द्र में) इन्द्रिय बल की स्थापना के कारण ही वह इन्द्र है।

निरुक्तकार के 'इन्धे भूतानि वा' इस निर्वचन का मूल भी वेद में उपलब्ध है–

समिद्ध इन्द्र उषसामनीके ....।[1]

इन्द्र (सूर्य) उषकाल की किरणों से प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार इरां दृणाति, इरां दारयते या इन्दन् शत्रूणां दारयिता आदि विदीर्ण करने वाले भाव वाले निर्वचनों का मूल भी वेद में उपलब्ध है–

पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः।।[2]

अर्थात् (अमितौजा) अनन्त बल का धारक, (वज्री) किरणों रूपी वज्र को धारण करने वाला (युवा) शक्तिशाली तथा (कवि) प्रकाशक अथवा मार्गदर्शक, (पुरुष्टुतः) बहुत लोगों द्वारा स्तुत अर्थात् गुणगान किए जाने वाला, (विश्वस्य कर्मणो धर्ता) समस्त कर्मों को धारण करने वाला (इन्द्र) सूर्य अथवा राजा (पुरां भिन्दुः अजायत) शत्रुओं के शरीर रूपी पुरों का विदारक है।

इस मन्त्र में √ भिद् विदारणे धातु से 'इन्द्र' शब्द की निरुक्ति का संकेत प्राप्त है। इसमें 'भ' का लोप तथा 'र' का आगम करके इन्द्र शब्द सिद्ध होगा, जो विदारण अर्थ वाचक है।

सूर्य का वाचक इन्द्र शब्द क्यों है? इसका एक स्पष्ट उत्तर बृहद्देवता में प्राप्त होता है।

रसान् रश्मिभिरादाय वायुनायं गतः सह।
वर्षत्येष च यल्लोके तेनेन्द्र इति स स्मृतः।।[3]

---

1 यजु. 20/36
2 ऋ. 1/11/4
3 वृद्धेवता 1/68

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

क्योंकि अपनी रश्मियों (किरणों) से जलों को ग्रहण करके वायु के साथ वह इस लोक पर वर्षा करता है, अतः उसे 'इन्द्र' कहते हैं।

यद्यपि √ इन्धी दीप्तौ से निष्पन्न इन्द्र शब्द से भी सूर्य अर्थ निकलता है, तथापि स्थान-भेद एवं कार्य-भेद से देवता का नाम भेद भी हो जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जब सूर्य द्युलोक में प्रकाशित होता है, तब उसका नाम सूर्य, तथा स्थान द्युलोक होता है, परन्तु जब वृष्टि का कारण बनता है, अर्थात् अपनी किरणों से जलाशयों के जलों को पर्जन्य में बदलने का कार्य करता है, तब उसका नाम इन्द्र तथा स्थान अन्तरिक्ष होता है। इसका प्रमाण भी वृद्धदेवता में प्राप्त होता है-

एतासामेव माहात्म्यान् नामान्यत्वं विधीयते।
तत्तत्स्थानविभागेन तत्र तत्रेह दृश्यते।।[1]

अर्थात् इन देवों की महानता के कारण इनके लिए विभिन्न नामों का व्यवहार किया जाता है, और इनके क्षेत्रों के विभाजन के अनुसार ही इनके नामों में विविधता दिखाई पड़ती है।

निरुक्त में भी यह बात कही गई है कि **तासां महाभाग्याद् एकेकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।**[2]

अर्थात् एक ही देवता के ऐश्वर्ययोग अर्थात् कार्य और शक्ति के आधार पर अनेक नाम होते हैं।

वेद में भी एक ही ईश्वर को कार्य और शक्ति के भेद से अनेक नामों से पुकारा गया है-

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।[3]

अर्थात् विद्वान् लोग एक ही ईश्वर को अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि नामों से पुकारते हैं।

महर्षि पाणिनि ने उणादि कोष में इन्द्र शब्द को व्युत्पत्ति √ इदि परमैश्वर्ये धातु से "ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्रकुव्रचुब्रक्षुरखुरभद्रोग्रभेरमेल शुक्रशुक्ल गौरवन्नेरामाला" इस उणादि सूत्र से रन् प्रत्यय, तथा नुमागम मानकर की

1 वृद्धदेवता 1/70
2 नि. 7/5
3 ऋ. 1/164/46

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

है। जिसके वहाँ समर्थ, अन्तरात्मा, सूर्य, योगी, वृष्टिकर्ता तथा देवपति अर्थ किए हैं।[1]

उणादि कोष की स्वामी दयानन्द वृत्ति में भी इन्द्र के परमेश्वर, समर्थ–अन्तरात्मा, आदित्य (सूर्य) तथा योगी अर्थ हैं।[2]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्यों में इन्द्र शब्द की पृथक्–पृथक् निरुक्तियाँ की हैं, जिन निरुक्तियों में इन्द्र के सूर्य, दुःखों का विदारयिता, राजा, परमेश्वर तथा योगी आदि अर्थ किए हैं। स्वामी जी की कतिपय निरुक्तियाँ प्रस्तुत हैं–

(1) इरा शब्देनान्नं पृथिव्यादिमुच्यते। तद्दारणात्, तद्दानात्, तद्धारणात। ऋ. 1/3/4 इरा + √ दृ, दा, धृ।[3]

अर्थात् 'इरा' शब्द से अन्न तथा पृथिवी का ग्रहण किया जाता है। उस अन्नादि को अंकुरण (विदीर्ण) करता है, जो अन्नों को प्रदान करता तथा जो धारण करता है, वह इन्द्र है। √

(2) दुःखानां विदारयिता। ऋ. 1/10/6 √ दृ विदारणे।[4]

अर्थात् जो दुःखों का विनाशक है, वह इन्द्र है।

(3) सर्वपदार्थविदारकस्य सूर्यलोकस्येव सभापतेः राज्ञः। ऋ. 1/32/1[5]

सब पदार्थों के विदारक सूर्यलोक के समान सभापति व राजा इन्द्र कहाता है।

(4) य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति सः इन्द्रः परमेश्वरः। √ इदि परमैश्वर्ये। –स.प्र. प्र.समु.[6]

जो परम ऐश्वर्यवान होता है, वह इन्द्र परमेश्वर है।

(5) शत्रूणां दारयिता। यजु. 17/35 √ दृ विदारणे।[7] जो शत्रुओं का नाश करने वाला है, वह इन्द्र है।

---

1 उ.को.वृत्ति (आचार्य सत्यव्रत) स्वा.दया.वृत्ति. सहित (सत्यसदन चित्तौड़गड़)
2 इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति इन्द्रः, समर्थोऽन्तरात्माऽऽदित्यो योगी वा। उ.को.
3 दया.नि.व्यु.कोष पृ. 40
4 दया.नि.व्यु.कोष पृ. 40
5 दया.नि.व्यु.कोष पृ. 40
6 दया.नि.व्यु.कोष पृ. 40
7 दया.नि.व्यु.कोष पृ. 40

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर मध्य प्राण को इन्द्र कहा गया है-

स सोऽयं मध्ये प्राणः स एवेन्द्रः।।[1]

(मध्य) अन्तरिक्षस्थानगत प्राण (वायु) अथवा हृदय-स्थानगत प्राण-वायु ही इन्द्र है। इस शतपथ ब्राह्मण वाक्य में जीवन के आधारभूत प्राणस्वरूप आत्मतत्व की ओर संकेत प्रतीत होता है।

रुद्र

यद्यपि देवताओं की संख्या निर्धारण प्रकरण में (अध्याय चार में) तेत्तीस देवताओं में ग्यारह रुद्रों की व्याख्या-प्रसङ्ग में रुद्रदेव का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है, तथापि अन्तरिक्षस्थानीय देवता की दृष्टि से रुद्र पर विचार प्रस्तुत है।

बृहद्देवता में रुद्र और मरुतों की मध्यमस्थानीय देवों में गणना की गई है-

ततस्तु मध्यमस्थाना देवतास्त्वनुशंसति।
रुद्रं च मरुतश्चैव स्तोत्रियेऽग्निमिमं पुनः।।[2]

अर्थात् इसके उपरान्त मध्यमस्थान के देवता रुद्र और मरुतों की प्रशस्ति तथा पुनः पार्थिव अग्नि की स्तुति की जाती है। बृहद्देवता में ही इन्द्र से सम्बद्ध मध्यस्थानीय देव समूह में रुद्र की गणना की गई है-

यश्चैन्द्रो मध्यमस्थानो गणः सोऽयमतः परः।
इन्द्राश्रयस्तु पर्जन्यो रुद्रो वायुर्बृहस्पतिः।
वरुणः कश्च मृत्युश्च देवश्च ब्रह्मणस्पतिः।।[3]

इसके बाद इन्द्र से सम्बद्ध मध्य-स्थान के देवगणों का वर्णन किया जा रहा है-

इन्द्राश्रितपर्जन्य, रुद्र, वायु, बृहस्पति, वरुण, 'क', मृत्यु और ब्रह्मणस्पति मध्यस्थानीय देवताओं में परिगणित हैं।

---

1 श.प.ब्रा. 6/1/1/2
2 बृह. 1/103
3 नि. 11/2/13, 14

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

बृहद्देवता के इसी क्रम को निरुक्तकार ने भी प्रस्तुत किया है। निरुक्त के ग्यारहवें अध्याय के द्वितीय पाद में मध्यस्थानीय देवों की गणना में सर्वप्रथम मरुतों (वायु) को, इसके बाद रुद्र को उल्लिखित किया है।

अथातो मध्यमस्थाना देवगणाः।।
तेषां मरुतः प्रथम गामिनो भवन्ति।।
रुद्रा व्याख्याताः। तेषामेषा भवति।।[1]

वेद और वैदिक साहित्य में 'रुद्र' शब्द परमेश्वर, आत्मा, प्राण, अग्नि, चालीसवर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन वाले ब्रह्मचारी, अपने शत्रु को रुलाने (पराजित करने) में समर्थ राजा आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वेद में रुद्र को दुष्टों को रुलाने वाला, दुपाए और चौपाओं को रोग से बचाने वाला, सुखों का दाता, उपनिषद् (ब्रह्म) वाणी का उपदेष्टा, यज्ञ का रक्षक, मरुतों का सहायक व रक्षक, बच्चे बूढे तथा पशुओं को दुःखों से बचाने वाला कहा गया है। इन उपर्युक्त विशेषणों के प्रमाणरूप कतिपय वेदमन्त्र उद्धृत हैं–

मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती मा सहूती।
उन्नो वीराँ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजाशृणोमि।।[2]

'हे रुद्र! हम तुम्हें कभी क्रुद्ध न करें क्योंकि आप तो दुःखों (रोगों) को नष्ट करने वाले (वैद्य) हो। हम (दुष्टुती) खुशामदी दिखावटी स्तुतियों से पुकार कर तुम्हें कुपित न करें, अपितु आदर वचनों व प्रणामों से सदा आपका आदर करें। आप हमारे वीरों (पुत्रों) को उत्तम रोग नाशक ओषधियों (उपायों) से सुख प्रदान करो।

इस मन्त्र में आध्यात्मिक दृष्टि से रुद्र को दुःखों के नाशक परमेश्वर तथा भौतिक दृष्टि से ओषधियों द्वारा रोगों के नाशक वैद्य की स्तुति की गई है।

इसी सूक्त का इसी प्रकार के भाव वाला एक और मन्त्र प्रस्तुत है–

---

1 नि..2/33/4
2 ऋ. 2/33/4

Funding by IKS-MoE

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

क्व स्य ते रुद्र मृडयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।
अपभर्ता रपसो दैत्यस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः।।[1]

हे (वृषभ रुद्र) सुखवर्षक श्रेष्ठ इन्द्र! अथवा दुःख निवारक वैद्य! (यः ते मृडयाकुः) जो तेरा सुख देने वाला, (जलाषः) सुख देने वाला (रपसः अपभर्त्ता) पापों अथवा दुःखों को दूर करने वालो वैद्य (स्यः हस्तः क्वः अस्ति) वह हाथ कहाँ है? (दैव्यस्य अभिचक्षमीथाः) हे वैद्य आप अपनी दिव्य शक्तियों से मुझे दृढ़ बनाओ।

अगले मन्त्र में शक्तिशाली रुद्र से दो पैर वाले और चार पैर वाले अर्थात् मनुष्यों और पशुओं की सुख-शान्ति की प्रार्थना की गई है।

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्।।[2]

(तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय रुद्राय) अत्यन्त बलशाली, जटाओं से युक्त अथवा जटिल, ऐश्वर्यशाली (रुद्राय) रुद्र के लिए (हम) (इमाः मती प्रभरामहे) इन बुद्धियों से स्तुति करते हैं। जिससे (द्विपदे चतुष्पदे शम् असत्) दो पैर वाले और चार पैर वाले प्राणियों का कल्याण हो, तथा (अस्मिन् ग्रामे विश्वं पुष्टं अनातुरं) इस ग्राम में सब पुष्ट तथा नीरोग हों।

अधः प्रदत्त मन्त्र में महामृत्यु पर विजय पाने के लिए त्र्यम्बक रूप परमेश्वर (रुद्र) से प्रार्थना की गई है।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।।

(सुगन्धिं पुष्टिवर्धनं त्र्यम्बकं यजामहे) हम यश को बढ़ाने वाले एवं पुष्टि अर्थात् समृद्धि को बढ़ाने वाले, तीन प्रकार के दुःखों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आदिदैविक) से रक्षा करने वाले अथवा तीनों (ज्ञान, कर्म और उपासनारूप) शब्दमय वेदों का उपदेश करने वाले अवि शब्दार्थः, अम्बति शब्दायते इत्यम्बः, त्र्यम्बकः, अथवा द्विपात्, चतुष्पाद

---
1 ऋ. 2/33/7
2 ऋ. 1/114/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

तथा सरीसृप तीनों प्रकार के प्राणियों का माता के समान रक्षक उस रुद्र रूप परमेश्वर का हम यजन करते हैं, अर्थात् उपासना करते हैं, ताकि वह रुद्र (मृत्योः बन्धनात्) मृत्यु के बन्धन से (उर्वारुकमिव) खरबूजे या ककड़ी के फल के समान सरलता से (मुक्षीय) छुड़ाकर (मा अमृतात्) मुझे अमृतत्व अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कराएँ।

यद्यपि इस मन्त्र में प्रत्यक्षतः रुद्रः शब्द का प्रयोग नहीं है, पुनश्च (त्र्यम्बकं) इस विशेष्य पद से रुद्र का आग्रहण इसलिए है क्योंकि इस मन्त्र का देवता रुद्र है, यही इस मन्त्र का प्रतिपाद्य होने से सभी विद्वानों ने त्र्यम्बकं शब्द का अर्थ रुद्र किया है।

रुद्र मरुतों का पति कहाता है। प्राकृतिक क्षेत्र में प्रबल-वेग-धारी मरुत (वायु) ही परमात्मा की अदम्य शक्ति के प्रतिनिधि स्वरूप हैं। महर्षि यास्क ने अग्नि को ही रुद्र के रूप में स्वीकार किया है,[1] क्योंकि इस संसार में परमात्मा की जो भी कल्पना की गई है, वह प्रकाश रूप में या शक्ति के रूप में की गई है। रुद्र या अग्नि उसी शक्ति या प्रकाश का पुञ्ज है।

वरुण

अन्तरिक्षस्थानीय देवों में वरुण की गणना देवताओं का चिन्तन करने वाले सभी आचार्यों ने की है। बृहद्देवता में वरुण को इन्द्र के पर्यायों में गिनाते हुए उसकी परिभाषा भी प्रस्तुत की है-

त्रीणीमा न्यावृणोत्येको मूर्तेन तु रसेन यत्।
तयैनं वरुणं शक्त्या स्तुतिष्वाहु कृपण्यवः।।[2]

अर्थात् (मूर्तेन रसेन) क्योंकि स्थूल आर्द्रता से केवल वरुण ही इन तीनों लोकों को आवृत्त (वृणोति) करता है, अतः आवृत्त कर्म के कारण ही ऋषिगण स्तुतियों में इसे वरुण के नाम से पुकारते हैं।

वैदिक साहित्य में 'वरुण' शब्द वरण करने योग्य परमेश्वर, सर्वावरक आकाश, आकाशसमुद्र, जल के देवता, वरत्व के हेतु वायु,

1 अग्निरपि रुद्र उच्यते। नि. 10/7
2 बृहद्देवता. 2/33

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

सायंकालीन सूर्य आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि उत्तरवर्ती पौराणिक साहित्य में वरुण शब्द की व्यापकता घटकर केवल जल के देवता अर्थ तक सीमित रह गयी। वरुण के उपर्युक्त सभी अर्थों के मूल में √ वृञ् वरणे धात्वर्थ ही मूल रूप में अभिप्रेत है। स्वादिगणीय अथवा चुरादिगणीय धातु √ वृ वरणार्थक के सभी रूप वृणोति, वृणुते, वरयति, वरति, वरते आदि 'वरुण' देव की व्यापकता को अभिव्यक्त करते हैं।

वैय्याकरणों ने 'वरुण' शब्द की सिद्धि स्वादिगणीय वृञ् वरणे धातु से "कृवृदारिभ्य उनन्" इस औणादिक सूत्र द्वारा उनन् प्रत्यय लगाकर की है। जिसकी निरुक्ति करते हुए महर्षि यास्क लिखते हैं-

वरुणः वृणोति इति सतः।[1]

जो वरण करता है। अर्थात् व्यापकता का वरण करने से वह वरुण है। निरुक्त विवृत्ति टीका में वृणोति का अर्थ आवृणोति किया गया है। अर्थात् जो आवरक है, वह वरुण है-

आवृणोति द्यं मेघजालेन वियत् अर्थात् जो बादलों के जाल से आकाश को ढक लेता है, वह वरुण है। इस व्याख्या से पर्जन्य के नियामक वरुण का संकेत मिलता है, जो पश्चाद्वर्ती पौराणिक साहित्य में वरुण के जल देवता होने का आधार बना।

वेद में ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जिनमें 'वरुण' शब्द वरणीय अर्थात् 'वरण करने योग्य' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है-

इन्द्रवरुणयोरहं सम्राजोरव आवृणे।
ता नो मृडात ईदृशे।।[2]

(अहं सम्राजोः इन्द्रवरुणयोः) मैं देदीप्यमान इन्द्र और वरुण का (अव आवृणे) रक्षार्थ वरण करता हूँ। (ईदृशे ता नो मृडात) ऐसे वे इन्द्र और वरुण (मुझे) सुख प्रदान करें।

इसी भाव का जिसमें इन्द्र के स्थान पर वरुण के साथ मित्र से प्रार्थना की गई है, एक और मन्त्र प्रस्तुत है।

Funding by IKS-MoE

1 नि. 10/3
2 ऋ. 01/17/1

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम्।
मित्रो यत्पान्ति वरुणो यदर्यमा।।[1]

(वरिष्ठं गोपयत्यं वार्यं पान्ति) जिस नितान्त श्रेष्ठ, सबके पालक, तथा जो धन की रक्षा करते हैं, (तत् वृणीमहे) उसका हम वरण करते हैं।

ऋग्वेद में स्वतन्त्र रूप से वरुण देवता के लगभग बारह सूक्त हैं, परन्तु इन्द्र और मित्र देवता के साथ वरुण देवता की स्तुति के बहुत से मन्त्र हैं। ऊपर जो मन्त्र उद्धृत किए हैं, उनमें भी एक इन्द्र के साथ तथा एक मित्र देव के साथ स्तुति का है।

वरुण–देव की शक्ति का चित्रण करने वाले कतिपय मन्त्र प्रस्तुत हैं–

न हि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयश्चनामी पतयन्त आपुः।
नेमा आपो अनिमिषं चरन्तीर्न ये वातस्य प्रमिनत्त्यभ्वम्।।[2]

हे वरुण! वरणीय अथवा सबको आवृत्त करने वाले प्रभो! (ते क्षत्रं) तेरी रक्षण सामर्थ्य या तेरे बल को तथा (ते मन्युं) तेरे कोप को तथा (अमी पतयन्तः आपुः) ये उड़ने वाले पक्षी आदि प्राणी तेरी सामर्थ्य को नहीं पा सकते अथवा माप सकते हैं। (न इमाः अनिमिषं चरन्तीः आपः) और न ये निरन्तर बहती हुई जल धाराएँ (नदियाँ), (न ये वातस्य अभ्वम्) और न ये वायु के वेग (प्रमिनन्ति) आपके स्वरूप या शक्ति को नाप सकते हैं।

इसी सूक्त को एक और मन्त्र में वरुण से की गई प्रार्थना का वर्णन प्रस्तुत है–

उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्यव्रते तवानागसो अदितये स्याम।।[3]

हे वरुण! वरणीय प्रभो! (अस्मद्) हमारे जो उत्तम मध्यम और अधम कोटि के पाश (बन्धन) हैं, अर्थात् सत्व, रजस् और तमस् के शरीर में ऊर्ध्व, मध्य और अधो भागों के सांसारिक बन्धन हैं अथवा

1 ऋ. 8/25/13
2 ऋ. 1/24/06
3 ऋ. 1/24/15

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

जो उत्तम, मध्यम तथा अधम कोटि के कर्मों के बन्धन हैं, अथवा जो आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख रूपी बन्धन हैं, आप उन्हें (विश्रथय) ढीला कर दें अथवा दूर करें। जिससे (अनागसः) पापरहित या बन्धन रहित होकर (आदित्य ब्रते) आदित्य के व्रतों का पालन करते हुए अर्थात् स्वयं को ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होकर औरों को भी प्रकाशित करते हुए (अदितये स्याम) अमृतत्व अर्थात् मोक्ष के लिए उद्यत होवें।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के द्वितीय सूक्त के कतिपय मन्त्रों में मित्र के साथ वरुण की स्तुति इस प्रकार की गई है–

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ताम्।।[1]

(अहम्) (पूतदक्षं रिशादसम् वरुणं मित्रं च हुवे) मैं परमपवित्र एवं बलशाली, रोग और शत्रुओं का नाश करने वाले मित्र और वरुण को अथवा वरणीय मित्र को अथवा सूर्य और वायु को (ब्रह्मण्ड में) अथवा प्राण और अपान को (पिण्ड में) पुकारता हूँ, अथवा प्राप्त करता हूँ, जो (घृताचीं धियं साधन्ताम्) रसवती आनन्दमयी अथवा √ घृ क्षरणे धात्वर्थक दोषों को नाश करने वाली पवित्रबुद्धि अथवा कर्मों को धारण कराएँ।

इस मन्त्र में मित्र और वरुण को वरणीय मित्र अथवा ब्रह्माण्ड में सूर्य और वायु तथा पिण्ड में प्राण और अपान का प्रतिनिधि मान कर प्रार्थना की गई है।

अथर्ववेद में भी वरुण के सूक्त हैं। वहाँ वरुण को इस मन्त्र में सर्वद्रष्टा परमेश्वर अथवा शक्तिशाली राजा के रूप में स्तुत किया है। उदाहरण देखिए–

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ सं निषद्य यन्मन्त्रयेते राजातद्वेद वरुणस्तृतीयः।।[2]

---

1 ऋ. 1/2/7
2 अथर्व. 4/16

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अर्थात् जो खड़ा है, (जो गति नहीं कर रहा है), जो गति कर रहा है, जो ठगई कर रहा है, जो छुपकर (कुटिलता) कर रहा है, जो दूसरों को (प्रतङ्कित) आतङ्कित कर रहा है, दो समीप बैठकर जो सलाह करते हैं, तीसरा राजा वरुण उसे जानता है।

इस मन्त्र में वरुण शब्द से अज्ञात, अनन्तशक्ति जो सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है, उस परमेश्वर या नीतिज्ञ व शक्तिशाली राजा की ओर संकेत है। वह वरुण सत्य नियमों को खण्डित करने वाले एवं छल कपट करने वालों को अपनी सर्वज्ञता से पहचान कर दण्डित करने की शक्ति रखता है।

गोपथ ब्राह्मण में वरुण शब्द वरण से सम्बन्धित माना है, जो मूलतः √ वृञ् वरणे धात्वर्थ का ही बोधक है। गोपथकार 'वरुण' को वरणीय परमेश्वर के रूप में स्वीकार करते हैं।

तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते।

उसको वरण के योग्य (वरेण्य) होने से ही वरुण कहा जाता है। गोपथ ब्राह्मण में 'वरुण' की वरणीयता को एक कथा के माध्यम से समझाया गया है।

ता या अमूः रेतः समुद्रं वृत्वाऽतिष्ठन् .... ता भीता अब्रुवन् भगवन्तमेव वयं राजानं वृणीमह इति। यच्च वृत्वाऽतिष्ठन् तद् वरुणोऽभवत्।[1]

अर्थात् वे व्यापक तन्मात्राएँ जल की भाप के समान बीजरूप होकर सर्वव्यापक परमात्मा को लेकर ठहरीं और बोलीं–भगवान् को हम राजा के रूप में वरण करते हैं और वरण करके ठहरीं, उससे वह वरण करने योग्य परमात्मा वरुण हुआ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेद भाष्य में वरुण शब्द की भिन्न भिन्न निरुक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें 'वरुण' के परमात्मा, वायु, उत्तम–जल, प्राण, चन्द्रमा तथा वृक्ष अर्थ किए हैं।

---

1 गो.ब्रा. 1/7 (पूर्व)

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

(1) वरः श्रेष्ठतमो जगदीश्वरो वरत्व हेतुर्वायुर्वा।[1]

वर अर्थात् श्रेष्ठ जगदीश्वर अथवा वरने योग्य होने से वायु भी वरुण कहलाता है। 'वरुण' शब्द परमेश्वर और वायु अर्थ में।

(2) बहिःस्थं प्राणं शरीरस्थमपानं वा।[2]

जो बाहर स्थित है, वह प्राण तथा जो शरीर में स्थित है, वह अपान वायु रूप वरुण है। प्राण और अपान अर्थ में।

(3) जलं वायुः चन्द्रो वा।[3]

वरुण जल, वायु अथवा चन्द्रमा है।

(4) यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोति अथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिः क्रियते वर्धते वा स वरुणः परमेश्वरः।[4]

जो सभी शिष्ट एवं मोक्ष की इच्छा रखने वाले धर्मात्माओं का वरण करता है, अथवा जिसका शिष्ट एवं मोक्ष की इच्छा रखने वाले धर्मात्मा जनों द्वारा वरण किया जाता है, वह वरुण अर्थात् परमेश्वर है।

उणादिकोष में भी वरुण शब्द उपर्युक्त अर्थों का वाचक कहा गया है।

वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुणः, उत्तमं जलं वृक्षभेदो वा।[5]

आपः

आपः देवता अन्तरिक्षस्थानीय है। यद्यपि आपः (जल) नदी, समुद्र व तालाबों (सरोवरों) के रूप में पृथिवी पर ही रहता है, फिर इसको देवशास्त्रीय ग्रन्थों में अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं में क्यों गिना गया है? इसका उत्तर है कि 'आपः' शब्द लौकिक संस्कृत में तो जल का वाचक है, परन्तु वैदिक साहित्य में मुख्यत्वेन जल का वाचक न होकर

1 ऋ. 1/24/8
2 ऋ. 1/2/7
3 ऋ. 1/17/5
4 स.प्र.प्र.स.
5 उ.को. 3/53

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

'व्यापकता' का वाचक है। क्योंकि 'आपः' शब्द √ आप्लृ व्याप्तौ धात्वर्थक होने से जो व्यापक है, वह आपः है। वैदिक साहित्य में 'आपः' शब्द सर्वव्यापक परमात्मा का वाचक है, क्योंकि वेद में स्वयं मन्त्र उपलब्ध है–

"ताः आपः सः प्रजापतिः" यजु. 32/1

अर्थात् उस परमात्मा प्रजापति को आपः कहा गया है। इसी प्रकार अथर्ववेद में 'आपः' शब्द ब्रह्म का वाचक कहा गया है–

यत्र लोकांश्च कोषांश्च आपो ब्रह्म जनाः विदुः।[1]

अर्थात् जिसमें लोकलोकान्तर और सब जगत् का कारण रूप कोष आदि पदार्थ स्थित है, वही 'आपः' है, उसी को ब्रह्म जानना चाहिए।

निरुक्तकार महर्षि यास्क ने यजुर्वेद के चौतीसवें अध्याय के पचपनवें मन्त्र की निरुक्ति की विवृत्ति टीका में 'आप' का व्यापक अर्थ किया है। **सप्त आपः आपनाः (सर्वस्य लोकस्य व्यापनाः)।**[2]

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्र सदौ च देवौ।[3]

अर्थात् सात ऋषि, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन और बुद्धि ये सातों √ ऋषि दर्शनात् अर्थ से विषयों के दिखाने वाले अर्थात् साक्षात्कार कराने वाले है, (शरीरे प्रतिहिताः) शरीर में स्थित हैं। ये सातों (सदम् अप्रमादं रक्षन्ति) विना प्रमाद के इस शरीर रूपी घर की रक्षा करते हैं। (सप्त आपः) ये सातों इन्द्रियों में गति देने वाले अथवा विद्यमान प्राण (स्वपतः लोकमीयुः) सोते हुए मनुष्यलोक (प्राणीलोक) में गति करते रहते हैं।

मनुष्य की इन्द्रियाँ सोते समय निष्क्रिय हो जाती हैं, परन्तु प्राण गतिशील बने रहते हैं, जिससे मनुष्य जीवित रहता है।

(अस्वप्नजौ सत्रसदौ देवौ जागृतः। ये दो प्राण और अपान रूपी देवता जागरूक हुए निद्रा रहित होकर शरीर में स्थित रहते हैं।

---

1 अथर्व. 10/7/10
2 नि.वृ.टी. 12/36
3 यजु. 34/55

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

इस मन्त्र में आपः शब्द √ आप्लृ व्याप्तौ धात्वर्थक शरीर में व्यापक 'प्राण' के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए निरुक्ति की टीका, विवृत्तिकार में 'आपः आपनाः सर्वलोकस्य व्यापनाः' अर्थ किया है।

'आपः' शब्द संस्कृत भाषा (वैदिक भाषा) में नित्य स्त्रीलिङ्ग तथा नित्य बहुवचनान्त है। सामान्यतः लौकिक संस्कृत में 'आपः' शब्द जल का वाचक है, परन्तु वैदिक साहित्य में यह व्यापक परमेश्वर, शरीर में व्याप्त प्राण, आत्मा, प्राप्त करने के अर्थ तथा पूर्णता के अर्थ में प्राप्त होता है। यह आप शब्द व्यापक होने अन्तरिक्ष अर्थ में, तथा कर्म, ओषधि एवं शान्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त है।

यहाँ तीनों धात्वर्थ √ आप्लृ व्याप्तौ, √ पृ पालन पूरणयोः तथा प्र + √ आप् प्रप्त्यार्थे वेद में यथा- प्रसङ्ग ग्राह्य हैं।

'आपः' शब्द व्याकरणशास्त्र में √ आप्लृ व्याप्तौ धातु से "आप्नोतेर्हृस्वश्च"[1] इस औणादिक सूत्र से क्विप् प्रत्यय लगने पर अथवा "आपः कर्मख्यायां हृस्वो नुट् च वा"[2] इस औणादिक सूत्र से कर्म अर्थ में 'असुन्' प्रत्यय तथा नुट् विकल्प से होकर तथा हृस्वादेश होकर 'अप्न' शब्द नुडादेश न होने पर जल वाचक आपः शब्द सिद्ध होता है।

निरुक्तकार ने √ आप्लृ व्याप्तौ धात्वर्थक निरुक्ति करते हुए लिखा है- **"आपः आप्नोतेः।"**[3] आपः व्यापक होने से है। यह शरीर में व्याप्त होने से प्राण व जल दोनों का वाचक है। √ आप्लृ व्याप्त्यर्थक मन्त्र का प्रयोग देखिए।

शंनो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः।।[4]

(देवीः आपः) हे जल देवी! अथवा सर्वव्यापक सर्वानन्दप्रद प्रभो! (अभिष्टये पीतये) इष्टानन्द की प्राप्ति के लिए तथा पूर्णानन्द से तृप्ति के लिए (नः शं भवन्तु) आप हमें शान्ति अथवा सुखदायक हों। (नः शं

1 नि. 9/26
2 उपा. 4/208
3 नि. 9/26
4 ऋ. 10/9/4, यजु. 36/12

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अभि स्रवन्तु) वह (वे) जल अथवा परमेश्वर हम पर सुखों की, शान्ति अथवा कल्याणों की वर्षा करें।

इस मन्त्र में 'आपः' शब्द जल तथा सर्वव्यापक व सब-सुखों के प्रदान करने वाले परमेश्वर के लिए हुआ है। √ आप्लृ व्याप्तौ।

"आपः" देवता के प्रयोग के विश्लेषण का एक और मन्त्र प्रस्तुत है।

आपो हिष्ठा मयो भुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे।।[1]

हे (आपः) जलो! अथवा सर्वव्यापक परमेश्वर! (हि) निश्चय ही (मयोभुव स्थ) तुम सुख तथा आनन्द के दाता हो, (ताः नः उर्जे) वह आप हमें बल व उत्साह प्रदान करने के लिए (महे रणाय चक्षसे) महान् संग्राम के समान जीवन व जगत् के दर्शन के लिए (दधातन) हमें ध ारण करो अथवा पुष्ट करो।

निम्न मन्त्र मे √ पृ पूरणार्थक व व्याप्त्यर्थक दोनों भावों का प्रकाशक है।

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम।
ज्योक् च सूर्यं दृशे।।[2]

हे व्यापक जल! अथवा सर्वव्यापक परमेश्वर! (मम तन्वे) मेरे शरीर में (वरूथं भेषजं पृणीत) रोग निवारक ओषधि को भर दो, (ज्योक् च सूर्यं दृशे) जिससे मैं दीर्घावधि सूर्य को देख सकूँ। अर्थात् लम्बे समय तक संसार के ऐश्वर्य रूप सूर्य के दर्शन करता रहूँ।

व्याप्त्यर्थक 'आप' पद का प्रयोग जो व्यापक अन्तरिक्ष का वाचक है, जिसका निर्वचन वेद मन्त्र में ही 'आपुः' क्रिया पद से किया गया है। ऋग्वेद में प्राप्त होता है। उदाहरण-

न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः।
स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती।।[3]

1 यजु. 11/50, ऋ. 10/9/1, अथर्व. 1/5/1
2 ऋ. 1/23/21
3 ऋ. 1/100/15

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

(यस्य शवसः अन्तम्) जिसकी शक्ति के अन्त को (न देवा देवता न मर्ता) न तो देव, न देवी, न मनुष्य (न आपः) न आप्तजन, या अन्तरिक्ष के अथवा जल के जीव (आपुः) पा सकते हैं। (सः त्वक्षसा क्षमा दिवः च) वह शस्त्र बल से, पृथिवी व आकाश अथवा द्युलोक से (प्ररिक्वा) बढ़ा हुआ (मरुत्वात्) मरुतो के (इन्द्र) स्वामी (न ऊती भवतु) हमारी रक्षा के लिए हों।

निघण्टु में आपः शब्द अन्तरिक्ष का भी वाचक है। **'आपः (अन्तरिक्षम्)। व्याप्नोति ह्यन्तरिक्षं सर्वं जगत्।**[1] शतपथ ब्राह्मण में आपः का अर्थ व्यापकता किया गया है–

सेदं सर्वमाप्नोद् यदिदं किञ्च यदाप्नोत् तस्मादापः।[2]

अर्थात् जो कुछ भी यह है, वह सब उस प्रजापति से व्याप्त है। चूंकि उसने व्याप्त किया है, इसलिए उसका नाम 'आपः' हुआ। शतपथ ब्राह्मण में ही कहा गया है–

अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्।[3]

अर्थात् जल से अथवा सर्वव्यापक परमेश्वर से यह सब व्याप्त है। इस निरुक्ति से परमेश्वर की सर्वव्यापकता अथवा सूक्ष्म परमाणु रूप जल की व्यापकता का संकेत प्राप्त है।

गोपथ ब्राह्मण में भी 'आप' शब्द की निरुक्ति √ आप्लृ व्याप्त्यर्थक तथा √ ओ प्याय् वृद्धौ धात्वर्थक की है।

तद्यदब्रवीदाभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्चेति तस्मादाप अभवन्, तदपामाप्त्वम्।।[4]

अर्थात् जो यह कहा कि इससे (जल से) अथवा सर्वव्यापकता से सब को प्राप्त करूँगा, इससे (व्यापकता से) वह जो सबको प्राप्त हुआ, अतः वही उसका जल का या आपः का आप्त्व हुआ।

गोपथ ब्राह्मण में 'आपः' का अर्थ सर्वव्यापक परमात्मा या उसकी व्यापक शक्तियां ही किया गया है।

---

1 नि. 9/26

2 श.प.ब्रा. 6/1/1/9

3 गो.ब्रा. (पूर्व) 1/2

4 गो.ब्रा. (पूर्व) 2/9

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आपः शब्द को मुख्यत्वेन तीन अर्थों में लिया है। ईश्वर (सर्वव्यापक), जल और प्राण।

स्वामी जी ने अपने वेद भाष्य में आपः शब्द की भिन्न-भिन्न स्थलों में भिन्न-भिन्न निरुक्तियां की है।

(1) आपः जलानि, वाऽऽप्नुवन्ति शब्दोच्चारणादि व्यवहारान् याभिः ता आपः प्राणाः।[1]

आपः जलों को कहते हैं, अथवा शब्दादि के उच्चारण व व्यवहार के सम्पादक होने से ये प्राण भी आपः कहलाते हैं।

(2) आप्नुवन्ति प्राप्नुवन्ति सर्वान् पदार्थान् ते प्राणाः।।[2]

सब पदार्थों में व्यापक प्राण आपः कहलाते हैं।

(3) आप्नुवन्ति इति आपः।।[3]

जो व्यापंक है, वह परमेश्वर, जल अथवा प्राण आपः है।

(4) आप्नुवन्ति व्याप्नुवन्ति शरीमित्यापः।।[4]

सम्पूर्ण शरीर में व्यापक होने से प्राण 'आपः' कहलाते हैं।

आचार्य विश्वश्रवाव्यास जो स्वामी दयानन्द की परम्परा के अनुयायी हैं, अपनी सन्ध्या पद्धति मीमांसा में **शन्नो देवी ......**[5] की व्याख्या में आप की व्याख्या में लिखते हैं-

देवीः आपः, सर्वप्रकाशकः, सर्वानन्दप्रदः सर्वव्यापकः ईश्वरः। आपः की व्याख्या में ईश्वर परक अर्थ शतपथ ब्राह्मण में भी प्राप्त होता है- "आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी"।[6] आपः नाम प्रजापति परमेश्वर का है।

---

1 ऋ.भा. 1/8/7 (स्वा.दया.)
2 ऋ.भा. 1/23/21 (स्वा.दया.)
3 यजु. 6/17 (स्व.दया.)
4 यजु. 34/44 (स्व.दया.)
5 यजु. 36/12 मन्त्र
6 श.प.ब्रा. 8/2/3/13

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

पर्जन्य

'पर्जन्य' जल का स्रोत होने से अन्तरिक्षस्थानीय देव है। बृहद्देवता में मध्यमस्थानीय इन्द्र से सम्बद्ध देवों में पर्जन्य की गणना की गई है–

इन्द्राश्रयस्तु पर्जन्यो रुद्रो वायुर्बृहस्पतिः।[1]

अर्थात् पर्जन्य रुद्र वायु और बृहस्पति इन्द्राश्रित मध्यमस्थानीय देवता हैं।

'पर्जन्य' पद वैदिक साहित्य में तथा लौकिक साहित्य में बादल या मेघ के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद के इन्द्रसूक्त में इसको 'अहि' शब्द से अभिव्यक्त किया है। अधः प्रदत्त उदाहरण द्रष्टव्य है–

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्रवक्षणा अभिनत्पर्वतानाम्।।[2]

इस मन्त्र का अर्थ इन्द्र-देवता के विवेचन प्रकरण में द्रष्टव्य है। यहाँ अहि शब्द का अर्थ 'बादल' आचार्य सायण एवं ऋषि दयानन्द सरस्वती ने निघण्टु के अनुरूप ही किया है।[3]

'पर्जन्य' शब्द √ पृषु सेचने धातु से 'पर्जन्यः' इस औणादिक सूत्र से 'अन्यः' प्रत्यय लगकर तथा 'षकार' को जकार आदेश होकर, गुण तथा रपर होकर सिद्ध होता है। जिसका अर्थ है- मेघ (बादल) तथा समर्थ। उणादि कोष में 'पर्जन्यः' सूत्र की दयानन्द वृत्ति में 'पर्जन्य' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की गई है–

पर्षति सिञ्चति इति पर्जन्यः मेघः समर्थो वा।[4]

अर्थात् जो (फसल को) सींचता है अथवा सिञ्चन (सेचन) में समर्थ है, वह पर्जन्य है।

आचार्य यास्क ने पर्जन्य शब्द का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उन्होंने 'पर्जन्य' शब्द की चार निरुक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। इनका विस्तृत विवेचन द्रष्टव्य है।

1 बृह. 1/122
2 ऋ. 1/32/1
3 अहिरिति 'मेघ' नामसु पठितुम्। निघ. 1/10
4 उ.को. (दया.वृ.) 3/103

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

पर्जन्यः कस्मात्? पर्जन्य स्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य। तर्पयिता जन्यः। परोजेता वा, जनयिता वा, प्रार्जयिता वा रसानाम्। तस्यैषा भवति।[1]

(1) पर्जन्यः कस्मात् – पर्जन्यस्तृपेराद्यन्त विपरीतस्य। तर्पयिता जन्यः।

अर्थात् पर्जन्य किससे? पर्जन्य शब्द √ तृप् धातु से वर्ण विपर्यय करके बना है। यहाँ तृप् का विपर्यय पृत् + √ जन + यत् प्रत्यय से 'पर्जन्य' शब्द बना है। अर्थात् जो सबकी तृप्ति का हेतु है, वह पर्जन्य है। निरुक्त विवृत्ति टीकाकार लिखते हैं–

सर्वजनपदतर्पयिता भवति पर्जन्यः।[2]

(2) परो जेता वा।

अर्थात् जो प्रकृष्ट विजेता है अर्थात् उत्तम कोटि का विजेता है, क्योंकि पर्जन्य ही अन्नादि को उत्पत्ति का कारण होने तथा जीवन रूपी संग्राम में विजय का हेतु होने से प्रकृष्ट होता है। पर + √ जि + यक् (पर्जन्य)। इसी कारण उणादिकोषकार ने 'पर्जन्य' शब्द का समर्थ अर्थ किया है, क्योंकि जो समर्थ होता है, वही 'प्रकृष्ट जेता' होता है। पर+ √ जि+यक् (पर्जन्य)। इसी व्युत्पत्ति के आधार पर पर्जन्यः शब्द का अर्थ समर्थ किया है क्योंकि जो समर्थ होता है, वही प्रकृष्ट जेता होता है।

(3) जनयिता वा।

अर्थात् जो सब सस्य या वनस्पतियों का जनयिता या उत्पादक है, वह पर्जन्य है। पर्जन्य के बरसने पर ही अन्न, ओषध्यादि उत्पन्न होने से पर्जन्य उनका जनयिता है। पर √ जन् + यक् = पर्जन्यः।

(4) प्रार्जयिता वा रसानाम्।

अर्थात् जो रसों का (जलों का) प्रकृष्ट अर्जयिता अर्थात् संग्रह–कर्ता है, वह पर्जन्य है। जलो के संग्रह का ही नाम तो मेघ, बादल या पर्जन्य है। यहाँ प्र + √ अर्ज + यक् = पर्जन्यः।

---

1 नि. 10/10
2 नि.वृ.टी. 10/10 (मुकुन्दशर्मा झा)

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

यजुर्वेद में ऐसे पर्जन्य से ही यथेच्छ अर्थात् जब-जब प्राणी कामना करें, तब तब बरसने की प्रार्थना की गई है।

.... निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु ....।[1]

अथर्ववेद के भूमिसूक्त में पर्जन्य को सकल प्राणियों का पिता कहा है।

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वाः सं वभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।।[2]

वह पर्जन्य (अपनी वृष्टि द्वारा अन्नादि उत्पन्न करने वला) पिता है (रक्षक है)। वह हमें पूर्ण करे।

इस मत्रांश में 'पिपर्तु' क्रिया पद से पर्जन्य पद का अर्थनिर्वचन किया गया है। यहाँ पर्जन्य का √ पृ पालन पूरणयोः धात्वर्थक निर्वचन किया गया है। √ पृ + जन् + यक्।

अद्भुत प्रतिभा के धनी स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी महाराज (पं. बुद्धदेव विद्यालङ्कार) ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'ऋग्वेद मण्डल मणि सूत्र' नामक ग्रन्थ में पर्जन्य का अर्थ 'कामना पूरी करने वाला मेघ' किया है।

आलक्ता या रुरुशीर्ष्ण्यथो यस्या अयो मुखम्।
इदं पर्जन्य रेतस इष्वै देव्यै वृहन्नमः।।[3]

स्वामी जी इस मन्त्र का भाव लिखते हैं, कि यह पर्जन्य (पर + जन्य) क्या है? पर शब्द √ पृ पालन पूरणयोः धातु से बना है। जो किसान की कामना पूरी करता है, जो किसान के खेत की पालना करता है, उसको 'पर्जन' कहते हैं और ऐसे जल को बरसाने वाले मेघ को पर्जन्य कहते हैं। यदि शत्रु के वैज्ञानिक 'विषशस्त्रजनयिता हैं, तो हमारे वैज्ञानिक पर्जन्य-शस्त्रजनयिता हैं। हम अपने उन वैज्ञानिकों की पर्जन्य

---

1 यजु. 22/22
2 अथर्व. 12/1/12
3 ऋ. 6/75/15

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

शस्त्रास्त्रजननी, पालन तथा पूरण करने वाली बुद्धि को 'बृहन्नमः' बड़ा नमस्कार करते हैं।

यद्यपि वेद में पर्जन्यदेव से प्रार्थना के अनेक मन्त्र हैं, उनमें से यजुर्वेद का एक मन्त्र जिसमें पर्जन्य से सुख व शान्तिकारी वृष्टि की प्रार्थना की गई है, प्रस्तुत है-

शन्नो वातः पवताꣳ शन्नस्तपतु सूर्यः।
शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु॥[1]

(हे प्रभो!) (वातः नः शं पवताम्) वायु हमारे लिए सुखकारी वहे, (सूर्यः नः शंतपतु) सूर्य हमारे लिए सुख शान्तिकारी तपे, (कनिक्रदद् पर्जन्यः देवः न शम् अभिवर्षतु) गड़गड़ाता हुआ घनघोर बादल या मेघ हमारे लिए सब और से सुख-व शान्तिकारी बरसे।

जैमिनीय ब्राह्मण में पर्जन्य से प्रजा की रक्षा का उल्लेख प्राप्त होता है।

पर्जन्यो भूत्वा (प्रजापतिः) प्रजानां जनित्रमभवत्।[2]

अर्थात् प्रजापति ने पर्जन्य होकर प्रजा की रक्षा की। अभिप्राय यह है कि प्रजापति पर्जन्य के रूप में सुखों या जलों की वृष्टि कर प्रजा के रक्षक होते हैं।

पर्जन्य पृथिवी को आर्द्रता प्रदान करते हैं, इसलिए उनको पर्जन्य कहा जाता है तथा वह लोकों को तृप्त करने के कारण तथा विजेता होने कारण एवं ओषधि व वनस्पतियों उत्पन्न करने (जनयिता होने) के कारण पर्जन्य कहलाते हैं। इन भावों को निरुक्तकार की भाँति वृहद्देवता में भी अभिव्यक्त किया गया है।

यदिमां पार्जयत्येको रसेनाम्बरजेन गाम्।
कालेऽत्रिरौर्वशश्चर्षि तेन पर्जन्यमाहतुः॥[3]

---

1 यजु. 36/10
2 यजु. 36/10
3 वृहद्दे. 2/37

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

आकाश में उत्पन्न (पर्जन्य) ही समय पर पृथिवी को आर्द्रता प्रदान करते हैं, अतः अत्रि ऋषि एवं उर्वशी पुत्र वशिष्ठ ऋषि ने उन्हें (बादलों को) पर्जन्य के नाम से पुकारा है।

तर्पयत्येष यल्लोकाञ्जन्यो जनहितश्च यत्।
परोजेता जनयिता यद्वाग्नेयस्ततो जगौ।।[1]

क्यों कि वे (पर्जन्य) सब लोकों को तृप्त करते हैं, और क्यों कि वे सब लोकों के हितैषी हैं, तथा क्यों कि वे परम विजेता व जनयिता है, अतः कुमार आग्नेय ने उनकी (पर्जन्य) की स्तुति की।

उपर्युक्त दोनों श्लोकों में वृहद्देवताकार आचार्य शौनक ने निरुक्त में प्राप्त निरुक्तियों के समान ही निरुक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। इनका विशेष विवेचन निरुक्त कृत निरुक्तियों के प्रकरण में किया जा चुका है।

अपांनपात्

अपांनपात् देवता को देवशास्त्रीय ग्रन्थों में अन्तरिक्ष स्थानीय-देव माना है। वृहद्देवता में आचार्य शौनक ने इन्द्र से सम्बद्ध मध्यस्थान देवसमूह में इसकी गणना की है-

अपांनपाद्दधिक्रा सुपर्णोऽथ पुरूरवाः।
ऋतोऽसुनीतिर्वेनश्च तस्यैतस्याश्रयेऽदितिः।।[2]

अर्थात् नपांनपात्, दधिक्रा, सुपर्ण, पुरूरवा, ऋत, अदिति व असुनीति तथा वेन मध्यक्षेत्र के देवताओं में गिने जाते है।

'अपांनपात्' शब्द के अलग-अलग मन्त्रों में अलग-अलग अर्थ प्राप्त होते हैं, जैसे- अग्नि, ब्रह्मचारी, योगी, धर्मज्ञ सन्यासी, प्रजा का प्रिय, विद्युत, जलप्रवाह को बान्धे रखने वाला अन्तःसूत्र, जल की एक बूँद को भी व्यर्थ न गिरने देने वाला आदि।[3]

ऋग्वेद के दशममण्डल के तीसवें सूक्त में अपांनपात् के मन्त्र प्राप्त होते हैं।

1 वृहद्दे. 2/38
2 वृहद्द. 1/124
3 ऋ. मण्डल-मणि सूत्र पृ. 426 (स्वा. समर्पणानन्द)

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्य विप्रास ईडते अध्वरेषु।
अपांनपात् मधुमतीरपो दायाभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय।।[1]

विद्युत अथवा प्रजा के मध्य नाशरहित (अनिध्मः) विना ईधन के अथवा (अप्सु अत्रः) जलों के बीच अथवा (दीदयत्) प्रजाओं के मध्य दीदयत् चमकता है, अथवा प्राण के विना ही आत्मरूप में देदीप्यमान है। (विप्रासः अध्वरेषु ईडते) विद्वान् लोग यज्ञ में अथवा हिंसा रहित कार्यों में जिसकी स्तुति करते हैं, अथवा आवाहन करते हैं। (आपांनपात् मधुमतीः आपः दाः) वह अपांनपात् मधुर जलों का दाता (याभिः इन्द्रः वीर्याय वावृधे) जिनसे इन्द्र बल की वृद्धि के लिए बढ़े।

इस मन्त्र में अपांनपात् देवता जल के मध्य बिना ईधन के चमकने वाला अर्थात् विद्युत के अर्थ में, अथवा प्राण व आत्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। वह अपांनपात् जलों को मधुरता प्रदान करने वाला तथा इन्द्र अर्थात् राजा को (अन्न-ओषध की वृद्धि कर) शक्ति को बढाने वाला है।

इसी सूक्त के तीसरे मन्त्र में भी अपांनपात् देवता के स्वरूप का उल्लेख है।

अध्वर्यवोऽप समुद्रमपां-नपातं हविषा यजध्वम्।
स वो ददवूर्मिमद्या सुपूतं तस्मै सोमं मधुमन्तं सुनोत।।[2]

अर्थात् (अध्वर्यवः) हे अध्वर्यो! यज्ञ के संयोजको! अथवा हिंसा-रहित शुभ कर्म के सम्पादको! (समुद्रं इत अपः) समुद्र के समान गम्भीर जलों अथवा महान कर्मों को प्राप्त होवो। (अपां-नपातं हविषा यजध्वम्) अपांनपात को अर्थात् अपने कर्मपथ से न भटकने वाले आप्त पुरुषों को अथवा धर्मपथ से न गिरने वाले जनों को हवि से उत्तम अन्न और वचनों से सम्मानित करो,(सः वः सुपूतं ऊर्मिं ददत्) वह तुम्हें पवित्र ऊर्मि को अर्थात् उत्साह और ऊर्जा से परिपूर्ण जीवन को प्रदान करे। (तस्मै) आप उसके लिए (मधुमन्तं सोमं सुनोत) मधुर सोम को निचोड़ो अर्थात् सुखद पदार्थों को प्राप्त कराओ ।

---

1 ऋ. 10/30/4, अथर्व. 14/1/37
2 ऋ. 10/30/3

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

इस मन्त्र में अपांनपात् यजमानों (ऋत्विजों) को उत्तम कर्मों का प्रेरक, स्तुत्य, ऊर्जा का देने वाला तथा सोम का (आनन्द का) दाता कहा गया है। अतः ऊर्जा का दाता होने से अग्नि या उत्तम कर्मों का प्रेरक होने से अग्नि या परमेश्वर तथा आनन्द का दाता होने से उक्त दोनों अर्थों का बोधक है।

ऋग्वेद के दूसरे मण्डल का पैंतीसवाँ सूक्त भी अपांनपात् देवता का विवेचक है।

स्व आदमे सुदुधा यस्य धेनुः स्वघां पीयाय सुभ्वन्नमत्ति।
सो अपांनपादूर्जयन्नप्स्वन्तर्वसुदेयाय विधत्ते विभाति।।

(यस्य स्वे दमे सुदुघा धेनुः) जिसके अपने घर में उत्तम दूध देने वाली गौएँ हों, अथवा मधुर वचनों वाली वाणियाँ हों, (स्वधां आपीयाय सुभ्वन्नमत्ति) वह मधुर दूध पीता है, अथवा मधुर वाणी की मधुरता का आनन्द पाता है। (सः अपांनपात् अप्सु अन्तः ऊर्जयन्) वह अपांनपात् अर्थात् दुग्धों का नाश न करने वाला प्राणों का नाश करने वाला पुरुष, दूध की धाराओं में अथवा प्राणों के भीतर बल की वृद्धि करता हुआ पुरुष (वसुदेयाय विधत्रे विभाति) वास के योग्य लिए या धन के पात्र के लिए या धन व रत्नों को धारण करता हुआ सुशोभित होता है।

इस मन्त्र में अपांनपात् को शक्ति का दाता व अपों को पतित न होने देने वाला (वसुदेय) धन का दाता आदि विशेषणों से विभूषित किया है।

इसी प्रकार इस सूक्त के अन्य अनेक मन्त्रों में अपांनपात् देव का विवेचन अथवा स्तुति हुई है

निरुक्त में 'अपांनपात्' देवता की व्याख्या 'तनूनपात्' से की है-

अपान्नपात् तनूनप्त्रा व्याख्याता।[1]

अर्थात् अपान्नपात् की व्याख्या 'तनूनपात्' शब्द से की गई है। दोनों देवता वाचक पदों में उत्तर पद 'नपात्' समान है। इसी प्रसङ्ग में निरुक्त में दी गई तनूनपात् की व्याख्या पर विचार करते हैं। पुनः अपांनपात्

Funding by IKS-MoE

1 नि. 10/18

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

से उसकी तुलना पर विचार करेंगे। निरुक्त में 'तनूनपात्' शब्द का सूक्ष्मता-पूर्वक विस्तृत विवेचन उपलब्ध हैं।

"तनूनपादाज्यं भवति।"[1]

तनूनपात् 'आज्य' होता है। ऋज्वर्थ टीकाकार कहते हैं कि तनूनपात् आज्य (आहुति का घृत) होता है, यह कात्थक्य' ऋषि ने कहा है। अतः आज्य की निरुक्ति की जाती है-

"तनूनपात् इति निर्वक्तव्यम् काथक्याह।
मतान्तरे वक्ष्यते यथा तावत् आज्यं तथा निरुच्यते।।
तत्पुनरेतत् आज्यं भवतीति।[2]
नपादित्यननन्तरायाः प्रजायाः नामधेयम्।।"[3]

नपात् सन्तान की सन्तान अर्थात् पौत्र को कहते हैं। ऋज्वर्थ टीकाकार लिखते है-

"या पितुरनन्तरा पुत्राख्या सा प्रजा भवति अनन्तरा तु पौत्राख्या तस्या नामधेयं नाम।"[4]

अर्थात् पिता के वाद जो उसका पुत्र है, वह प्रजा कहाता है और उसके पुत्र का पुत्र अर्थात् पौत्ररूपप्रजा 'नपात्' कहलाती है, क्यों कि **"न पातयति, न पतत्यनेन वा"[5]** वह जिससे न गिराता है, न गिरता है। पुत्र पौत्रादि के कारण व्यक्ति के वंश अथवा उसके यश का पतन या पातन नहीं होता, क्यों वही वंश वा यश का रक्षक होता है।

यहाँ 'तनूनपात्' में तनू शब्द 'गौ' का वाचक है। और नपात् पौत्र का 'गौ' से उत्पन्न क्षीर (दूध) आदि भोग, चूँकि उसी का विस्तार (तनू विस्तारे) है। गौ से उत्पन्न दूध गौ का पुत्र हुआ, तथा दूध से उत्पन्न घी (आज्य) उसका पौत्र हुआ। अतः तनूनपात् का अर्थ गाय का घी (आज्य) अथवा गौ के पुत्र दूध का पुत्र घी (आज्य) हुआ। यही तनूनपात् है। इसी को निरुक्त में इस प्रकार कहा गया है-

1 नि. 8/5
2 नि.ऋज्व. टी. 8/5
3 वही. नि. ऋ. टी. 8/5
4 वही.नि.ऋ.टी. 8/5
5 वही. नि. ऋ. टी. 8/5

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

तनूरत्र गौरुच्यते। तता अस्यां भोगाः।।
तस्याः पयो जायते।। पयस आज्यं जायते।।[1]

महर्षि शाकपूणि ने तनूपात् अथवा अपांनपात् को साक्षात् अग्नि का वाचक माना है।

अग्निरिति शाकपूणिः।[2]

महर्षि शाकपूणि कहते हैं। कि अग्नि तनू (पुत्र) या विस्तार आपः है, क्योंकि आपः अन्तरिक्ष में व्याप्त है– 'अग्नेरापः' और आपः से ओषधि वनस्पतियाँ पैदा होती हैं। अतः ये आपः का विस्तार होने से अग्नि की पौत्री अर्थात् अपांनपात् या तनूनपात् हुई। इसी प्रकार तनूनपात् और अपांनपात् एक अर्थ के वाचक देव हैं। निरुक्त के शब्दों में–

अपोऽत्र तन्व उच्यन्ते तता अन्तरिक्षे।।
ताभ्य ओषधि वनस्पतयो जायन्ते, ओषधि वनस्पतिभ्य एष जायते।।[3]

ऋग्वेद मण्डल का पैतीसवां सूक्त अपांनपात् देव के स्वरूप, गुण व उसकी स्तुति के मन्त्रें से परिपूर्ण है। इन सभी मन्त्रों के भाष्यों में अपां+नपात् अपों के पतन को न होने देने वाले विवेचन व विश्लेषण प्राप्त होते है। उदा.–

अपांनपादा ह्यस्थादुपस्थं जिह्वानमूर्ध्वो विद्युतं वसानः।
तस्य ज्येष्ठं महिमानं वहन्तीर्हिरण्यवर्ण्यः परियन्ति वह्वीः।।[4]

अर्थात् हे अपांनपात्! हे शरीर में स्थित प्राणों का अथवा उत्तम कर्मों का पतन न होने देने वाले अथवा वीर्य का पतन न होने देने वाले ब्रह्मचारीजन! (उपस्थं आस्थात्) उपस्थितेन्द्रिय को संयमित करो, (जिह्वानम् ऊर्ध्व विद्युतं वसानः) कुटिल जनों व प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर (विद्युत) ऊर्जा को अथवा तेज को धारण करते हुए (ज्येष्ठं महिमानं वहन्ती) उत्तम सामर्थ्य या महिमा को धारण करती हुई तथा

1 नि. 8/5
2 वही.
3 नि. 8/2/5
4 ऋ. 2/35/9

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

(हिरण्यवर्णा वह्वीः) हिरण्य वर्ण वाली सुन्दर व रूपवती बहुत सी सन्तानें परियन्ति प्राप्त करें।

इस मन्त्र में अपांनपात् शब्द ब्रह्मचर्य या प्राण या कर्म का पतन न होने देने वाले मनुष्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि अपांनपात् शब्द जब भी मनुष्य के अर्थ में प्रयुक्त होगा, तव वह पृथिवीस्थानीय देव कहलाएगा किन्तु जब जल या प्राणवाची अन्य आज्यादि या विद्युत आदि पतन न होने देने वाले के अर्थ में प्रयुक्त होगा, तब वह अन्तरिक्षस्थानीय देवों में गिना जाएगा। क्यों कि आपः और प्राण (वायु) दोनों ही अन्तरिक्षस्थानीय देव हैं।

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

सप्तम अध्याय
द्यु-स्थानीय देव गण

पिछले अध्याय में अन्तरिक्षस्थानीय प्रमुख देवों का विवेचन किया गया है। वैदिक वाङ्मय में एक देवता के गुण, कर्म या समय भेद से उसके स्थान का भी परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए 'सविता' उदय होते हुए सूर्य का नाम है, परन्तु सूर्य का स्थान द्युलोक है और 'सविता' का अन्तरिक्ष है। इसका विस्तृत विवेचन सविता के प्रसङ्ग में करेंगे। इसी प्रकार अग्नि के अनेक रूप हैं, जो पृथिवीस्थानीय न होकर अन्तरिक्षस्थानीय हैं। 'सूर्य' भी अग्नि का एक रूप है, जो द्युस्थानीय है। इस प्रकार एक ही देव, गुण, कर्म तथा स्थान व काल के भेद के कारण वह पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युस्थानीय कहलाता है। इसी प्रकार इन्द्र और वरुण भी सूर्य के वाचक हैं। इन्द्र और वरुण देवों के विवेचन प्रकरण में इसके प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। पुनश्च इन्द्र और वरुण इन दोनों देवों को सभी देवशास्त्रीय ग्रन्थों में अन्तरिक्षस्थानीय देवों में गिना गया है। इस अध्याय में निर्विवाद द्युस्थानीय देवों तथा सूर्य के अर्थ वाले देवों का विवेचन किया जाएगा।

सूर्य

वृहद्देवता में आचार्य शौनक ने सभी प्रमुख देवों को तीन वर्गों में विभक्त किया है। प्रथम वर्ग पृथिवीस्थानीय देवों का जिनका प्रतिनिधि देव अग्नि है। दूसरे वर्ग में अन्तरिक्षस्थानीय देव हैं, जिनका प्रतिनिधि

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

देव वायु अथवा इन्द्र है। तृतीय वर्ग द्युस्थानीय देवों का है, जिनका प्रतिनिधि देव सूर्य है।

प्रथमो भजते त्वासां वर्गोऽग्निमिह दैवतम्।
द्वितीयो वायुमिन्द्रं वा तृतीयः सूर्यमेव च।।[1]

द्युस्थानीय देवों में सूर्य या आदित्य प्रमुख देव है। यद्यपि सूर्य और आदित्य एक ही द्युस्थानीय देव के नाम हैं, तथापि वेद में दोनों देवों के मन्त्र अलग-अलग प्राप्त होते हैं। निर्वचन ग्रन्थों में दोनों की निरुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिनमें देवों की विभिन्न शक्तियों व गुणों तथा कार्यों का वर्णन प्राप्त होता है। वृहद्देवता में सूर्यदेव को स्थावर और जंगम जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण माना गया है।

भवद्भूतस्य भव्यस्य जङ्गमस्थावरस्य च।
अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः।।[2]

कतिपय लोग, जो कुछ है, था और होगा और जो कुछ स्थावर व जंगम है, उस सबकी उत्पत्ति तथा प्रलय का कारण सूर्य ही है। वस्तुतः सूर्य, सविता और आदित्य एक ही देवता की भिन्न अवस्थाओं के नाम हैं। अवस्था के भेद से कार्य और स्वरूप में परिवर्तन होने के कारण इसकी भिन्न भिन्न नामों से स्तुति की गई है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के सैंतीसवें सूक्त में सूर्य देव के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है-

येन सूर्य ज्योतिषा वाधसे तमो जगच्च विश्वमुदियर्षि भानुना।
तेनास्मद्विश्वा मनिरामनाहुतिमपामीवामप दुष्वप्न्यं सुव।।[3]

अर्थात् हे सूर्य! जिस ज्योति से तुम अन्धकार को बाधित करते हो अर्थात् दूर करते हो, और अपने प्रकाश से संसार को अथवा सबको ऊपर उठाते हो, अतः आप अपनी प्रकाशशक्ति से (हमारी) अन्नहीनता, दान न देने की भावना तथा रोग और बुरे स्वप्नों की स्थिति को दूर भगा दो।

---
1 वृहद्देवता. 1/5
2 वृहद्देवता. 1/61
3 ऋ. 10/37/4

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

इस मन्त्र में 'अपसुव' क्रिया पद से सूर्य पद की निरुक्ति की गई है। अप+ √ षू प्रेरणे धातु का अलग करने की प्रेरणा देने के अर्थ में प्रयोग हुआ है। अप उपसर्ग के प्रयोग ने प्रेरणार्थक भाव को अलग करने की प्रेरणा में बदल दिया, क्योंकि उपसर्ग धातु के अर्थ में परिवर्तन कर देता है।

उपसर्गेण धात्वर्थो वलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहार–संहारविहार–परिहारवत्।।

अर्थात् उपसर्ग के योग से धातु का अर्थ बदल जाता है, जैसे प्रहार, आहार, संहार, विहार और परिहार इन सभी शब्दों में हरणार्थक धातु का प्रयोग हुआ है, लेकिन सबके अर्थ भिन्न हैं। प्रहार (चोट पहुँचाना), आहार (भोजन), संहार (विनाश या संभालना), विहार (घूमना), परिहार (निराकरण)। ये एक धातु के अनेक अर्थ उपसर्ग के योग से हुए हैं।

निरुक्त में 'सूर्य' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की गई है–

सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा।[1]

अर्थात् जो सरणशील है, अर्थात् गति करता है, अथवा जो प्रेरणा प्रदान करता है अथवा जो भलीभाँति ईरण (गति) करता है, वह सूर्य है।

सर्तेर्वा– सूर्य शब्द की महर्षि यास्क द्वारा की गई यह पहली निरुक्ति है, जिसमें कहा गया है कि 'जो गति शील है, वह सूर्य है, सूर्य स्वयं तो गति करता ही है, साथ ही वह सारे भौतिक पदार्थों व प्राणियों को गतिशील बनाता है। सूर्य अपनी ऊर्जा से ओषधियों व वनस्पतियों को गति (प्रगति) प्रदान करता है। वे सब सूर्य से ऊर्जा पाकर बढ़ते हैं व पनपते हैं, संवर्धित, पल्लवित व पुष्पित होते हैं। पशु, पक्षी भी सूर्य की ऊर्जा से पल्लवित, पुष्पित व फलीभूत होते हैं तथा ओषधि व वनस्पतियों को खाकर गतिशील होते हैं। √ सृ गतौ धात्वर्थक निरुक्ति।

सुवतेर्वा–

महर्षि यास्क का यह दूसरा निर्वचन √ षू प्रेरणे (तु.) धात्वर्थक है। जो प्रेरणा देता है, वह सूर्य है। सूर्य सबका प्रेरक है, वह सब लोगों को

Funding by IKS-MoE

1 नि. 12/14

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

उदित होते ही कर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा प्रदान करता है। सूर्य का सन्देश है कि **"उतिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत"**। उठो, जागो और वरों (श्रेष्ठ लक्ष्यों) को प्राप्त करो, यह सूर्य की प्रेरणा है। यही कारण है कि आज भी लोग सूर्योदय के वाद उसकी प्रेरणा से अपने अपने कार्य मे लग जाते हैं।

स्वीर्यतेर्वा–

महर्षि यास्क का यह तीसरा निर्वचन सु+ √ इर् गतौ धात्वर्थक है। **सुष्ठुतया ईर्यन्ते प्रेर्यन्ते जानाः येन सः सूर्यः।** अर्थात् जिससे भलीभाँति लोग प्रेरित किये जाते हैं, वह सूर्य है। इसमें ऊपर की दोनों निरुक्तियों का समन्वय है। ईरण (गति) भी है, प्रेरण (प्रेरणा) भी है। अत सूर्य गति व प्रेरणा दोनों का हेतु है।

व्याकरण शास्त्र में सूर्य शब्द √ सृ गतौ धातु से राजसूय "सूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृश्पच्यात्यथ्याः"[1] इस सूत्र से क्यप् प्रत्यय तथा उत्व का निपात कर सूर्य शब्द सिद्ध होता है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 151 वें सूक्त में स्वृ शब्दोपतापयोः धात्वर्थक प्रयोग उपलब्ध होता है–

स्वरन्ति ता उपरताति सूर्यमा निम्रुच उषसस्तक्वरीरिव।।[2]

अर्थात् (ताः उषसः) वे उषाएँ या प्रातकालीन किरणें (तक्वरीरिव) सेना के समान (उपरताति) अन्तरिक्ष में (निम्रुचः) निरन्तर गमन करती हुई (सूर्यम्) सूर्य मण्डल को (आ स्वरन्ति) शब्दायमान करती हुई आवृत्त करती हैं।

इस मन्त्र में (उषसः सूर्य स्वरन्ति) उषाएँ सूर्य को उपतापित करती हैं, इस वाक्य में 'स्वरन्ति' क्रिया पद से सूर्य की निरुक्ति की है।

जैमिनीय ब्राह्मण में 'सोऽर्यः' से सूर्य पद की निरुक्ति की है–

तं सर्वाणि भूतानि सोऽर्य सोर्य इत्यायन् तत्सोर्यस्य
सोर्यत्वम्। सोऽर्यो ह बै नामैष, तं सूर्य इति परोक्षमाचक्षते।।[3]

1 अष्टा. 3/1/114
2 ऋः 1/151/05
3 जै.ब्रा. 3/3/57

Funding by IKS-MoE

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अर्थात् जो जब प्राणियों को गति प्रदान करता है, वह अर्य ही 'सोऽर्यः' या सूर्य है। सब को गति प्रदान करना और गतिशील रहना ही सूर्य का सोर्यत्व या सूर्यत्व है। सः+ √ ऋ गतौ धात्वर्थक निरुक्ति है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में सूर्य शब्द की निरुक्ति सुवीर्य पद से की गई है।

तं देवा अब्रुवन्। सुवीर्ययो यथा गोपायत इति तत्सूर्यस्य सूर्यत्वम्।[1]

उस इन्द्र को देवतागण बोले (सुवीर्य) पराक्रमी इन्द्र ही मनुष्यों की रक्षा करने में समर्थ है, यही उस सुवीर्य अर्थात् सूर्य का सूर्यत्व है। सु+वीर्य में व को सम्प्रसारण 'उ' होकर, सु+उ को दीर्घ हो सू+ई कार को लोप होकर सूर्य शब्द बना है।

वेद में सूर्य के स्वरूप के प्रतिपादक अनेक मन्त्र उपलब्ध हैं, जिनमें 'सूर्य' शब्द प्रत्यक्षवृत्ति से सूर्य तथा परोक्षवृत्ति से परमेश्वर का वाचक है। उदाहरणार्थ कतिपय मन्त्र प्रस्तुत हैं।

उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्॥[2]

दैविकपक्ष (त्यं जातवेदसं सूर्यं देवं) उस जातवेदस् सूर्य देव को (विश्वाय दृशे) जगत् के प्रकाश के लिए (केतवः उद्वहन्ति) उसकी किरणरूपी ध्वजाएँ सूर्य के स्वरूप को धारण करती हैं अथवा प्रकट करती हैं।

आध्यात्मिक पक्ष

(त्यं जातवेदसं सूर्यं देवं) वेदों के उत्पादक अथवा प्रत्येक उत्पन्न हुए पदार्थ को जानने वाले सर्वज्ञ परमेश्वररूप सूर्यदेव जो सबकी गति/प्रगति का हेतु है तथा जो सबकी प्राप्ति का स्थान अथवा जो सबको ज्ञान का देने वाला अथवा जो सबको ऊर्जा (शक्ति) प्रदान करने वाला है, अथवा जो सब जगत का प्रकाशक है, उस देव को (विश्वाय दृशे) सब प्रकार के ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (केतवः उद्वहन्ति) उसकी रश्मि उसके स्वरूप को प्रकाशित करती हैं, अथवा प्रकट करती हैं।

---

1 तै. ब्रा. 22/10/1

2 यजु. 7/41, 33/31

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।।[1]

अर्थात् (वयं तमसः+परि स्वः) हम अज्ञान रूपी अन्धकार से परे तथा आनन्द अथवा स्वयं प्रकाश स्वरूप (उत्तरं देवत्रा देवं) प्रलय काल के बाद भी विद्यमान तथा उद् अर्थात् ऊँचे से भी और ऊँचे देवाधिदेव या देवों के रक्षकों के भी देव अर्थात् सबके प्रकाशक व दाता (सूर्यम् उत्तमं ज्योतिः अगन्म) सूर्यरूप अर्थात् सबको गति देने वाले सबके प्रेरक व प्रकाशक, सर्वोत्तम प्रकाशक अथवा ज्ञानस्वरूप आपको प्राप्त हों।

उक्त दोनों मन्त्रों में सूर्य के आधिदैविक और आध्यात्मिक दोनों भावों में सूर्य के प्रकाशक, गति देने वाले एवं प्रेरणार्थक भाव विद्यमान हैं।

यजुर्वेद का ही एक और मन्त्र जो सूर्य के स्वरूप का प्रतिपादक एवं उसके वाचक मित्र, वरुण, अग्नि आदि शब्दों का विवेचक है, प्रस्तुत है।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा[2]

अर्थात् वह सूर्य या सूर्यरूप प्रभु सब को गति देने वाला व प्रकाशित करने वाला, (चित्रम्) विलक्षण है। चित्रं शब्द √ चिञ् चयने धातु से औणादिक सूत्र 'अभिचिमि शसिभ्यः क्त्र' से क्त्र प्रत्यय लगकर सिद्ध होता है। इस प्रकार चित्र शब्द का अर्थ हुआ चयनीय, अतः वह सूर्य या प्रभु चयनीय है। निरुक्तकार ने 'चित्र' शब्द की निरुक्ति की है- **"चित्रं चयनीयं महनीयम्"**[3] अर्थात् चित्र का अर्थ है- चयन करने योग्य अथवा पूजनीय, जो पूजनीय होता है, वही चयन करने योग्य होता है। (अनीकम्) सत्यस्वरूप अथवा जीवन दायक बल स्वरूप, √ अन प्राणने धातु से औणादिक **"अनि हृषिभ्यां किच्च"** सूत्र से 'ईकन् प्रत्यय लगकर 'अनीकम्' शब्द सिद्ध होता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती उणादिकोष की

1 यजु. 35/14
2 यजु. 7/42
3 नि. 12/6

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

वृत्ति में लिखते हैं- **"अनिति जीवयति इति अनीकम् विरुद्ध सैन्यं वा"**[1] अतः अनीकं शब्द का अर्थ हुआ- जीवनदायी अथवा विरुद्धसैन्यबल। (देवानां उदगात्) जो देवों के हृदय में प्रकाशित होता है। (मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः चक्षुः) वह मित्रभावना वाले मनुष्य का तथा वरुण योग्य श्रेष्ठ जनों का तथा उत्तमज्ञान वाले उपासक का चक्षु मार्गदर्शक है। मित्र, वरुण और अग्नि सूर्य के पर्याय भी माने गए है। (द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं आप्राः) जो द्युलोक, पृथिवीलोक तथा आकाश में व्याप्त है, तथा जो (जगतः तस्थुषः च आत्मा) जंगम तथा स्थावर जगत् का आत्मा अर्थात् प्राण है। मैं उस सूर्यरूप प्रभु का (स्वाहा) गुणगान करता हूँ।

इस मन्त्र में सूर्य को चयनीय, जीवनदायक मित्र, वरुण तथा अग्नि व प्रकाशक, द्युलोक, अन्तरिक्षलोक तथा पृथिवीलोक, इन तीनों लोकों में व्याप्त तथा स्थावर व जङ्गम जगत् का आत्मा कहा है। इस मन्त्र में सूर्य के सभी कार्य गुण तथा स्वरूप का विस्तृत वर्णन प्राप्त है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने यजुर्वेदभाष्य में 'सूर्य' शब्द की बहु-विध निरुक्तियाँ की हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है-

(1) चराचरात्मनः परमेश्वरस्य प्रकाशमयस्य सूर्यलोकस्य वा सरति जानाति प्रकाशयति चराचरं जगत् इति।[2]

अर्थात् स्थावर और जङ्गम जगत् के आत्मरूप परमेश्वर का अथवा प्रकाशमय सूर्यलोक का अथवा जो चराचरजगत् को गति प्रदान करता व जानता है अथवा प्रकाशित करता है, वह सूर्य या परमात्मा है।

(2) यः सुवत्यैश्वर्यं ददाति, ऐश्वर्यहेतून् प्रेरयति सः परमेश्वरः प्राणो वा तस्य।[3]

अर्थात् जो ऐश्वर्य का दाता है, अथवा ऐश्वर्य के लिए प्रेरित करता है, वह परमेश्वर अथवा प्राण सूर्य कहाता है।

---

1 उ. को. 4/18
2 यजु. भा. 1/31 (स्वा.द.)
3 यजु. भा. 1/31 (स्वा.द.)

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

(3) सुवति ऐश्वर्यहेतुर्भवति। सोऽयं सूर्यलोकः।[1]

अर्थात् जो ऐश्वर्य का हेतु होता है, वह यह सूर्यलोक है।

(4) यः सुवति स्वप्रकाशेन प्रेरणाहेतुर्भवति स सूर्यलोकः।[2]

अर्थात् जो अपने प्रकाश से प्रेरणा का कारण होता, वह सूर्यलोक कहलाता है। स्वामी जी की इन सभी निरुक्तियों में √ षू प्रेरणार्थक, √ सृ गतौ धात्वर्थक एवं √ षुङ् प्रसवैश्वर्ययोः धात्वर्थकभाव स्वीकृत हैं।

सविता

'सविता' भी सूर्य का ही नाम है परन्तु सविता उदित होते हुए सूर्य को कहते हैं। 'सविता' सूर्य का ही रूप होने के कारण 'सविता' का स्थान भी 'द्युलोक' होना चाहिए परन्तु देवशास्त्रीय ग्रन्थों में सविता की गणना अन्तरिक्षस्थानीय देवों में की गई है। बृहद्देवता में आचार्य शौनक ने इन्द्र से सम्बन्धित मध्यस्थानीय (अन्तरिक्षस्थानीय) देवसमूह में की है -

त्वष्टा च सविता चैव वातो वाचस्पतिस्तथा।
धाता प्रजापतिश्चैव अथर्वाणश्च ये स्मृताः।।[3]

अर्थात् त्वष्टा, सविता, वायु, वाचस्पति, धाता एवं प्रजापति इन सबको अथर्वन् कहते हैं। ये अन्तरिक्षस्थानीय इन्द्र से सम्बद्ध हैं।

इन आचार्यों का सविता को अन्तरिक्षस्थानीय मानने का कारण कदाचित् काल का भेद है। उदयभावी सूर्य को सविता कहा गया है। उदयकाल में सविता की द्युति (प्रकाश) पश्चाद्वर्ती सूर्य जैसा न होने से इसका (सविता) का स्थान अन्तरिक्ष माना गया है।

सविता की महिमा और स्तुति के मन्त्र चारों वेदों में है। ऋग्वेद में 'सविता' देव के दशाधिक सूक्त हैं तथा बहुत से सूक्तों में अंशतः सविता देव की स्तुति की गई है।

सविता शब्द का अर्थ है- प्रेरक √ षू प्रेरणे धात्वर्थक। सविता का

1 यजु.भा. 2/5 (स्वा.द.)
2 यजु.भा. 3/9 (स्वा.द.)
3 बृहद्दे.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दूसरा अर्थ– 'उत्पादक' √ षुञ् अभिषवे धात्वर्थक। सविता का तीसरा मुख्य भाव है– 'ऐश्वर्य का प्रदाता' √ षु प्रसवैश्वर्ययोः धात्वर्थक। सविता के तीनों अर्थों के भाव वाले मन्त्र वेद में प्राप्त होते हैं।

सर्वप्रथम वह मन्त्र प्रस्तुत है, जिसका उल्लेख चारों वेदों में है, जो गुरुमन्त्र या गायत्री मन्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। इस मन्त्र का देवता (विषय) सविता है। अतः प्रमाणार्थ प्रस्तुत है। **ओउम् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात्।**[1]

अर्थात् (ओम्) सबके रक्षक एवं उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय के कर्ता (भूः) प्राण स्वरूप या जीवनदायक (भुवः) दुःखनाशक (स्वः) सुख व आनन्दस्वरूप (तत् सवितुः) उस सकल जगत् के उत्पादक, प्रेरक व प्रकाशक तथा परमैश्वर्यवान् (वरेण्यम्) वरण करने योग्य अथवा श्रेष्ठतम (भर्गः) शुद्ध अर्थात् क्लेशादि से रहित (देवस्य) दिव्यगुणों से युक्त परमेश्वर का (धीमहि) हम ध्यान करते हैं। (यः) जो प्रभु (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) सन्मार्ग व सद्गुणों की ओर प्रेरित करे।

इस मन्त्र में 'सवितुः' शब्द से प्रेरणा उत्पत्ति और ऐश्वर्य अर्थ वाले सभी धात्वर्थों का आग्रहण किया गया है।[2]

यह मन्त्र 'सविता' शब्द से उत्पत्तिकर्ता, प्रकाशक, प्रेरक एवं सकल ऐश्वर्य के स्वामी अर्थ वाले धात्वर्थों का प्रकाशक है।

तत्सविता वोऽमृतत्वमासुवत् ....। ऋ. 1/110/3[3]

(सविता) सबका प्रेरक अथवा सकल ऐश्वर्य का स्वामी (वः) तुम्हें (तत् अमृतत्वम्) उस अमृतत्व अथवा मोक्ष या आनन्द को (आसुवत्) प्राप्त कराए या आनन्द की ओर प्रेरित करे।

यहाँ आसुवत् क्रिया पद से 'सविता' का निर्वचन किया गया है; जो √ षू प्रेरणे या √ षु प्रसवैश्वर्ययोः धात्वर्थ का सूचक है। यहाँ 'आ + सुवत्' में 'आ' उपसर्ग के योग से √ षू प्रेरणे का अर्थ प्राप्त कराने के अर्थ में परिवर्तित हो गया है। इसी प्रकार 'यद्भद्रं तन्न आसुव' में

1 यजु. 3/35, 36/3, ऋ. 3/62/10

2 सवितुः = षू-प्रेरणे,षूङ्-प्राणि प्रसवे, पुञ्-अभिषवे, पु-प्रसवैश्वर्ययोः धातुओं से तृच् प्रत्यय होकर सवितृ (सविता) शब्द सिद्ध हो[illegible] सविता शब्द ग्राष होंगे।

3 वैदिक निर्वचन कोष पृ. 224

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

आसुव क्रिया पद का अर्थ प्राप्त कराईए हुआ है।

इस मन्त्र का सूर्यपरक अर्थ भी सङ्गत होगा, जैसा कि वेद भाष्यकार पं. जयदेव शर्मा जी ने किया है-

''वह (सविता) सूर्य (वः) तुम्हें (अमृतत्वं) चेतनता (आसुवत्) प्राप्त कराए या प्रदान करे।[1]

"यथा प्रसूता सवितुः सवाय" ....।[2]

आधिभौतिक भाव - जैसे (प्रसूता) सन्तानोत्पत्ति करने वाली स्त्री (सवितुः सवाय) सविता सन्तानोत्पत्ति करने वाले पुरुष के लिए उद्यत होती है।

आधिदैविकभाव- (प्रसूता) अथवा उत्पन्न हुई उषा (सवितुः सवाय) सूर्य के आगमन के लिए स्थान रिक्त करती है।

इस मन्त्र में √ षूङ प्राणिगर्भविमोचने धात्वर्थ अभिप्रेत है।

चन्द्राणि देवः सविता सुवाति।[3]

वह सवितादेव (सूर्यदेव) ही चन्द्रमाओं को प्रकाशित करता है। यहाँ √ षू प्रेरणार्थक धात्वर्थ अभिप्रेत है।

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।[4]

अर्थात् हे सवितादेव! सकल ऐश्वर्य के स्वामी देव! (भगाय) ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (यज्ञं) यज्ञ की भावना को तथा (यज्ञपतिं) यज्ञ के रक्षक व पालक को (प्रसुव) बढ़ाओ।

यहाँ √ षु प्रसवैश्वर्ययोः धात्वर्थ अभिप्रेत है, क्योंकि इस मन्त्र में ऐश्वर्य की कामना की गई। अतः सविता शब्द से ऐश्वर्यार्थ ही ग्राष है। यज्ञ की प्रेरणा करने के अर्थ में √ षू प्रेरणार्थक धात्वर्थ भी समीचीन है।

सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु।[5]

(सः) वह (सविता) सकलैश्वर्यों का स्वामी अथवा सूर्य

---

1 ऋ. 1/110/3 पृ. 643
2 ऋ. 1/113/1
3 ऋ. 5/42/3
4 यजु. 9/1, 30/1
5 अथर्व. 5/24/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(प्रसवानाम्) सकल ऐश्वर्यों अथवा प्रेरणाओं का (अधिपति) स्वामी है। (स मावतु) वह मेरी रक्षा करे। इस मन्त्र में षु प्रसवैश्वर्वयोः या षू प्रेरण ो धात्वर्थ अभिप्रेत है।

आ देवो यातु सविता सुरत्नोऽन्तरिक्षप्रा वहमानो अश्वैः।।[1]

हे सविता देव! आप शोभनरत्नों से युक्त अन्तरिक्ष में व्याप्त ऊषमान किरणों से युक्त होकर आइये।

इस मन्त्र में सवितादेव पद से सूर्य की ओर संकेत है। अतः षु प्रसवैश्वर्ययोः एवं षू प्रेरणे धात्वर्थ अभिप्रेत हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण में सविता शब्द को षू प्रेरणे धात्वर्थक निरुक्ति प्राप्त होती है –

"सविता वै प्रसवानामीशे।
सवितृ प्रसूता एवैनं तन्मथति तस्मात्सावित्रीमन्वाह।"[2]

अर्थात् जो उत्पन्न हुए पदार्थों का स्वामी है, वह सविता है। अथवा जो उत्तम कर्मों की प्रेरणा का स्वामी है, वह सविता है। 'सविता' की प्रेरणा से ही इस अग्नि का मथन (उद्दीपन) करते हैं, इसलिए सविता–देवता की ऋचा का पाठ करते हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी 'सविता' शब्द की निरुक्ति प्रसुवति तथा सुवत् क्रियापद द्वारा की गई है।

"दातारमा सविता विदेम। यो नो हस्ताय प्रसुवाति यज्ञम्, इति"[3]

अर्थात् जो सविता 'हस्त' नक्षत्र में यज्ञ करने की प्रेरणा करता है, अथवा यज्ञीय पदार्थों को उत्पन्न करता है, मैं उस सविता की जानूँ या प्राप्त करूँ।

इस निरुक्ति में √ षू प्रेरणे तथा √ षूञ अभिषवे धात्वर्थ प्रयुक्त हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में सुवत् क्रिया पद से भी सविता की निरुक्ति की गई है–

---

1 ऋ. 7/45/1
2 ऐ.ब्रा. 1/3/5 पृ.97 सम्पा. सुधाकर मालवीय
3 तै.ब्रा. 3/1/1/9

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

स नः सविता सुवत्सनिम्। पुष्टिदां वीरवत्तमम्।[1]

अर्थात् हमें प्रेरणा करने वाला अथवा हमें उत्पन्न करने वाला सविता ही है।

यहाँ भी √ षू प्रेरणे या √ षूञ् अभिषवे धात्वर्थ का ग्रहण है। शतपथ ब्राह्मण में सविता को देवताओं का प्रेरक कहा है-षू प्रेरणे धात्वर्थ का प्रयोग किया है।

"सविता वै देवानां प्रसविता"।[2]

अर्थात् सविता ही देवताओं का प्रेरक (जगाने वाला) है। इस निरुक्ति में प्रातःकालीन सूर्य का संकेत है।

गोपथ ब्राह्मण में भी सविता की निरुक्ति में प्रासुवत् क्रिया पद से प्रेरणार्थक भाव को अभिव्यक्त किया है-

"सविता देवेभ्यः प्रासुवत्"।[3]

अर्थात् सविता ने देवताओं को प्रेरणा प्रदान की है। षू प्रेरणे धात्वर्थ।

निरुक्तकार ने भी वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों का ही अनुगमन करते हुए सविता का निर्वचन करते हुए लिखा है कि-

"सविता सर्वस्य प्रसविता"।[4]

अर्थात् जो सबका प्रेरक अथवा जो सबको उत्पन्न करने वाला है। निरुक्त की ऋज्वर्थ टीका में उक्त निरुक्ति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि-

"सविता सर्वस्य प्रसविता मध्यमस्थानो देवः"।[5]

अर्थात् सविता सबका प्रेरक है तथा मध्यम (अन्तरिक्ष) स्थानीय देव है। जब (सूर्य) अपनी आरम्भिक अवस्था में होता है, तब वह सविता कहाता है, और उसका स्थान अन्तरिक्ष होता है। पुनः निरुक्तकर कहते हैं-

1 तै.ब्रा. 3/1/3/3
2 श. प. ब्रा. 1/1/2/17, 1/7/1/4
3 गो. ब्रा. (उत्तर)/14
4 नि. 10/31
5 नि. ऋ. टी. (दुर्ग.) 10/31

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

"आदित्योऽपि सविता उच्यते"।[1]

अर्थात् आदित्य भी सविता कहा जाता है। क्योंकि सविता का आदित्य रूप भी प्रेरक है एवं ऐश्वर्य का जनक है। आचार्य यास्क एवं उनके टीकाकारों ने भी सविता की निरुक्ति षू प्रेरणे एवं षु प्रसवैश्वर्ययोः धात्वर्थक ही स्वीकार की है।

निरुक्त के बारहवें अध्याय में सविता का काल निर्धारण करते हुए यास्क लिखते हैं-

तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति।[2]

अर्थात् सविता का काल है, जब द्युलोक में किरणें अन्धकार नष्ट करके फैलती हैं, परन्तु पृथिवी तक नहीं आ पाती हैं। दुर्गाचार्य इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए लिखते है-

"यस्मिन् काले द्यौरेव अपहततमस्को भवति, न पृथिवी। पृथिव्यां तमो भवति एव (दिव्यपहते तमसि विक्षिप्ता अस्यां रश्मयो भवन्ति) स सवित्रः कालः। तस्मिन् काले आदित्यः सवितोच्यते।।"[3]

इसी बात को ध्यान में रखते हुआ आचार्य सायण सविता की परिभाषा करते हैं-

"उदयात् पूर्वभावी सविता"[4]

अर्थात् उदय से पूर्वकाल के सूर्य का नाम सविता है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के सेन्ट स्टीफन्स कॉलिज के. पूर्व प्रो. डॉ. सत्यभषण योगी ऋ. 7/45 की भूमिका में सविता के विषय में लिखते है-

सविता- अन्धकारमध्यादागच्छन् प्रकाशः।[5]

अर्थात् अन्धकार के बीच से आता हुआ प्रकाश ही सविता कहाता है। जिसे 'पौ फटना' कहते हैं। डॉ. योगी लिखते हैं- आध्यात्मिक दृष्टि

1 नि. 10/32
2 नि. 12/12
3 नि. ऋ. टी. (दुर्ग.) 12/12
4 ऋ. 5/81/4
5 वेदसमु. (डॉ. सत्य भूज़णयोगी) मोती. वना. प्रकाष्ठान, सविता सू. की भूमिका।

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

से मनुष्य जीवन की समस्याएँ ही अन्धकार हैं, तथा इन समस्याओं के समाधान की प्रेरणा ही सविता का प्रकाश हैं।

सविता की स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्यों में कई निरुक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, इनमें से कतिपय निरुक्तियाँ प्रस्तुत हैं-

1. "सविता रसानां प्रसविता"[1]

अर्थात् जो रसों का उत्पादक अथवा प्रेरक है, वह सविता है। षू प्रेरणे तथा षुञ अभिषवे धात्वर्थक निर्वचन है।

2. "सविता सकलैश्वर्यप्रदः"[2]

सविता सकल ऐश्वर्य का देने वाला है। षु प्रसवैश्वर्ययोः।

3. "सविता सकलैश्वर्य जनयति"[3]

जो सम्पूर्ण ऐश्वर्यों को उत्पन्न करता है, वह सविता कहाता है। षु प्रसवश्वर्ययोः तथा षुञ् अभिषवे धात्वर्थक।

4. "सर्वस्य जगतः प्रसविता"[4]

सब जगत् का उत्पन्न करने वाला या प्रेरक है, वह सविता कहलाता है षू प्रेरणे षुञ् अभिषवे धात्वर्थक।

5. "यः चराचरं जगत् सुनोति सूते वा उत्पादयति सा सविता परमेश्वरः।"[5]

जो चर (जङ्गम) अचर (स्थावर) जगत् की उत्पत्ति करता है, उस परमेश्वर का नाम सविता है। षुञ् अभिषवे तथा षूङ् प्राणिगर्भविमोचने धात्वर्थक।

---

1 ऋ. 1/35/9
2 ऋ. 7/45/1
3 यजु. 1/21
4 यजु. 3/35
5 स. प्र. प्र. समु. (स्वा. दया.)

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh

आदित्य

द्युस्थानीय देवों में आदित्य प्रमुख देव है। यद्यपि आदित्य, सूर्य, सविता, मित्र, वरुण अर्यमा ये सब सूर्य के ही नाम हैं, तथापि प्रत्येक नाम में सूर्य के गुणों व उसके स्वरूप एवं काल तथा स्तुति मन्त्रों में भेद है। इनकी निरुक्तियों में विभिन्नता है परन्तु भाव में बहुत-कुछ एकरूपता भी है। इसी का विवेचन वेदमन्त्रों, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों तथा निरुक्तादि निर्वचनशास्त्रों के आधार इस प्रकरण में किया जाएगा।

व्याकरणशास्त्र में आदित्य शब्द अदिति के पुत्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है- **"अदितेः पुत्रः आदित्यः"।**

दो अवखण्डने धातु से क्तिन् प्रत्यय तथा "द्यतिस्यति" अष्टा 7/4/40 सूत्र से इकारादेश होकर दितिः शब्द सिद्ध होता है। न + दिति - अदितिः **"दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्य"** (अष्टा. 4/1/55) सूत्र से अपत्य अर्थ में 'ण्य' प्रत्यय होकर 'यस्येति च[1] से इकार लोप तथा आदि वृद्धि होकर आदित्य शब्द सिद्ध होता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में आदित्य शब्द को 'परमात्मा' का वाचक मानते हुए लिखते हैं- "दो अवखण्डने" इस धातु से अदिति और इससे तद्धित करने से "आदित्य" शब्द सिद्ध होता है। **"न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः अदितिरेव आदित्यः"** अर्थात् जिसका विनाश कभी न हो उसी ईश्वर की आदित्य संज्ञा है।[2]

ऋग्वेद में दो √ अवखण्डने धात्वर्थ का प्रयोग अधः प्रदत्त मन्त्र में हुआ है-

"आदित्यासो आदितयः स्याम पूर्देवत्रा वसवो मर्त्यत्रा"[3]

अर्थात् हे आदित्यो! (आप) देवों और मनुष्यो को पवित्र करने वाले हो, तथा वसाने वाले हो, आप अखण्डनीय हो, हम भी (आपकी कृपा से) अखण्डनीय हो जाएँ।

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के 51 तथा 52 वें सूक्त में आदित्य देवता के स्वरुप का विवेचन प्राप्त होता है।

1 अष्टा. 6/4/148
2 स. प्र. प्र. समु. (स्वा. दया.)
3 ऋ. 7/52/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

"आदित्यानामवसा नूतनेन सक्षीमहि शर्मणा शन्तमेन"।[1]

आदित्यों के (नूतनेन अवसा) नूतन ज्ञान अथवा रक्षा साधनों से एवं (शर्मणा शन्तमेन) सुख और शान्ति से (सक्षीमहि) युक्त करें।।

यहाँ आ+दा धात्वर्थ विवक्षित है। अथवा आ+दीङ् क्षये धात्वर्थ भी सम्भाव्य है। आचार्य यास्क ने 'आदित्य' शब्द का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने आदित्य पद की चार निरुक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न धात्वर्थों का विश्लेषण किया है-

आदित्यः कस्मात्? आदत्ते रसानादत्ते भासं ज्योतिषाम्।
आदीप्तो भासेति वा। अदितेः पुत्र इति वा।।[2]

1 आदत्ते रसान्

अर्थात् जो रसों को खींच लेता है। आदित्य अपनी रश्मियों से समुद्र नदी आदि के जल को वाष्पीकरण कर खींच लेता है। इसलिए वह (आदत्ते रसान् इति) आदित्य कहलाता है। इस निर्वचन में आ √ दा दाने धात्वर्थ विवक्षित है।

2. आदत्ते भासं ज्योतिषाम्

जो ग्रहनक्षत्रादि (चन्द्रमादि) के प्रकाश को अपने प्रकाश से आग्रहीत (तिरोहित) करता है, वह आदित्य है। वस्तुतः सूर्य का प्रकाश ग्रह नक्षत्रादि की ज्योति को अभिभूत कर देता है, इसीलिए वह आदित्य कहलाता है। इस द्वितीय निर्वचन में भी आ+दा दाने धात्वर्थ प्रतिपादित है।

3. आदीप्तो भासेति

जो सब ओर से प्रकाशमान् अर्थात् जो स्वयं प्रकाशित है अथवा अपने प्रकाश से देदीप्यमान है, वह आदित्य है। यहाँ दीप् दीप्तौ धात्वर्थ अभिप्रेत है।

4. अदितेः पुत्र इति वा

---

1 ऋ. 7/51/1

2 नि. 2/4/13

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अथवा अदिति के पुत्र आदित्य कहलाते हैं। अदिति देवमाता कहलाती है। अदिति "अदीना-देवमाता" मानी गयी है। अतः आदित्य की निरुक्ति यहाँ दीङ्क्षये धात्वर्थ विवक्षित है।

अदिति से आदित्य पद के निर्वचन का संकेत प्राप्त होता है-

इन्द्र इन्द्रियैर्मरुतो मरुद्भिरादित्यैर्नो अदितिः शर्म यंशत।।[1]

(इन्द्रः) इन्द्रियों का अधिष्ठाता (इन्द्रियैः) इन्द्रियों द्वारा (मरुतः) वायु (मरुद्भिः) प्राणों द्वारा (आदित्यः) सूर्य को ज्योति अथवा देवमाता (आदित्यैः) किरणों द्वारा अथवा देव पुत्रों द्वारा (नः) हमें (शर्म यंशत) सुख प्रदान करे, अथवा (अदितिः) सम्वत्सर (आदित्यैः) वारह महीनों के माध्यम से सुख प्रदान करे।

इसी प्रकार अधःप्रदत्त मन्त्र में अदिति से आदित्य का विवेचन किया गया है-

कः आदित्याँ अदितिं ज्योतिरीट्टे।।[2]

अर्थात् कौन-कौन आदित्यों की अदिति (ज्योति) प्रकाश को चाहता है, अर्थात् कौन ज्योति (प्रकाश से युक्त आदित्यों की कामना करता है? इसमें "अदितेः भवः आदित्यः" इस निरुक्ति का भाव अभिप्रेत है।

गोपथ ब्राह्मण में भी आदित्य को अदिति से उत्पन्न कहा गया है। अधः प्रदत्त कथानक के माध्यम से आदित्य का विवेचन किया है

अदितिर्वैप्रजा कामौदनमपचत् तत उच्छिष्टमश्नातु सा गर्भ समधत्त, तत आदित्या अजायन्त।।[3]

प्रजा की इच्छा से अदिति ने भात पकाया, पुनः बचे हुए भात को खाया, फिर अदिति ने गर्भ को धारण किया, तब आदित्य उत्पन्न हुए।

प्रो. वीरेन्द्र अलंकार ने अपने ग्रन्थ गोपथ निर्वचन विज्ञान में अदिति का अर्थ परमात्मशक्ति किया है, उस परमात्मशक्ति से उत्पन्न पदार्थ आदित्य कहलाते हैं।[4]

---

1 ऋ. 1/107/2

2 ऋ. 4/25/3

3 गो. ब्रा. पूर्व. 2/15

4 गो. नि. वि. पृ. -106 (डॉ. प्रो. वीरेन्द्र अलङ्कार)

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अदिति का अर्थ प्रकृति भी किया गया है तथा प्रकृति से उत्पन्न पदार्थ भी आदित्य माने गए हैं। जैमिनीय ब्राह्मण में साल के बारह महीनों को आदित्य कहा है। इसका विवेचन यद्यपि तेतीस देवताओं के प्रसङ्ग में किया जा चुका है, पुनश्च प्रकरणवश जैमिनीय ब्राह्मण में प्रदत्त विश्लेषण प्रस्तुत है।

कतम आदित्य इति द्वादश मासाः सम्वत्सरस्य। एते आदित्याः, एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति। तस्मादादित्या इति।[1]

साल के बारह महीने आदित्य कहे जाते हैं, क्योंकि ये बारह महीने प्राणियों को सब कुछ देते हैं। इस निरुक्ति में आ + √ दा दाने ध ात्वर्थक-भाव प्रतिपादित है।

. जैमिनीय ब्राह्मण में ही आदित्य का अर्थ प्राण भी किया है, क्यों कि प्राण भी हमें जीवन प्रदान करते हैं, अतः वे भी आदित्य कहलाते हैं-

प्राणाः वा आदित्याः। प्राणा हीदं सर्वमादत्ते।।[2]

इस निरुक्ति में आ + दा धात्वार्थ ही विवक्षित है। शतपथ ब्राह्मण में इस संसार को धारण करने वाले (धाता) को आदित्य कहा है। **धातासौ स आदित्यः**[3] यहाँ आदित्य का सूर्य अर्थ विवक्षित है क्यों कि वही अपने प्रकाश से अथवा ऊर्जा से सब अन्न ओषधि आदि का जनक होने से संसार का धारण करने वाला है। यहाँ आ + धा धारण पोषणयोः या आ + √ धृ धारणे धात्वर्थ विवक्षित है।

शतपथ ब्राह्मण में आदित्य का अर्थ ब्रह्म भी किया गया है- **"असौ वा आदित्यो ब्रह्म"**।[4] अर्थात् यह आदित्य ही ब्रह्म है क्यों कि वह ब्रह्म अखण्ड है, दाता है, धारक है, प्रकाशक है, अक्षीण है। अतः वह आदित्य ब्रह्म कहलाता है।

सूर्य के समान तेजस्वी जन भी आदित्य ब्रह्मचारी के रुप में जाने जाते हैं। शास्त्र में तीन प्रकार के ब्रह्मचारी कहे गये हैं- वसु, रुद्र, और आदित्य। आदित्य ब्रह्मचर्य की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है।

1 तै. ब्रा. 2/77
2 जै. उ. ब्रा. 2/9
3 श. प. ब्रा. 9/5/1/37 अर्थात् जो धारण करता है, वह आदित्य कहलाता है।
4 श. प. ब्रा. 7/4/1/34

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

उषा

उषा द्यु स्थानीय देवता है, क्यों कि यह भी सूर्य का ही रुप है। यह सूर्य का अत्यारम्भिक रूप है। ऋग्वेद में उषा की स्तुति लगभग 20 सूक्तों में हुई है।

बृहद्देवता में आचार्य शौनक ने उषा को अन्तरिक्ष स्थानीय प्रतिनिधि देव इन्द्र के क्षेत्र का देवता माना है। यद्यपि इन्द्र भी इन्धी दीप्तौ धात्वर्थक सूर्य का वाचक होने से द्युस्थानीय होगा। आचार्य शौनक उषा की गणना इन्द्र के क्षेत्र के देवताओं में करते हुए लिखते हैं-

राका वाक् सरमाप्त्याश्च भृगवोऽध्न्या सरस्वती।
यम्युर्वशी सिनीवाली पथ्या स्वस्तिरुषाः कुहुः।।[1]

अर्थात् राका, वाक्, सरमा, आप्त्यगण, भृगुगण अघ्न्या, सरस्वती, यमी, उर्वशी, सिनीवाली, पथ्या, स्वस्ति, उषा, और कुहु देवताओं की गणना इन्द्र क्षेत्र के देवों में की गई है। यद्यपि आचार्य शौनक ने बृहदेवता के द्वितीय अध्याय में उषा को सूर्य-पत्नी अर्थात् सूर्य की रक्षिका व मार्गदर्शिका के रूप में प्रस्तुत कर स्वयं द्युस्थानीय मान लिया है-

तस्य मुख्यतमौ देवौ अश्विनौ सूर्यमाश्रितौ।
वृषाकपायी सूर्योषाः सूर्यस्यैव तु पत्नयः।।

अर्थात् सूर्य से सम्बद्ध वर्ग के दो प्रमुख देवता अश्विनौ (अश्विन द्वय) हैं। जब कि वृषाकपायी सूर्या और उषाएँ सूर्य की पत्नियाँ हैं। वस्तुतः उषा ही सूर्या है। निरुक्त की विवृत्त टीका में उदयकालिक सूर्य रश्मियाँ उषा कही गई हैं, तथा वे ही कालान्तर में (सूर्य के मध्यकाल में) सूर्या कहती हैं।

"यथा यथासौ सूर्यस्योदयकालं प्रति अभिसृष्टितमा गततमा भवति तथा तथा सैषा उषाः सूर्या सम्पद्यते।"[2]

इसी प्रकार उषा की सूर्या के रूप में परिवर्तित होने की व्याख्या बृहद्देवता में भी प्राप्त है।

Funding by IKS-MoE

1 बृह. 1/128
2 नि. वि. टी. 12/7

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

पुरोदयात्तामुषसं सूर्यामध्यं दिने स्थिते।।[1]

उसी को सूर्योदय के पूर्व उषा तथा मध्याह्न के समय को सूर्या कहते है। निरुक्तकार ने 'उषा' का निर्वचन किया है–

"उषा कस्मात्? उच्छतीति सत्याः। रात्रेरपरः काल"[2]

उषा किस कारण से ? क्योंकि यह (उषा) अन्धकार का विनाश करती है। यह रात्रि का अन्तिम प्रहर कहलाता है। रात्रि के अन्तिम प्रहर में अन्धकार समाप्त होकर प्रकाश होने लगता है। इसी अन्तिम प्रहर के थोड़े प्रकाश होने तथा अन्धकार के नष्ट होने के समय को 'उषा' कहते हैं।

उषा (उषस्) शब्द उष् दाहे धातु से औणादिक "उषः किच्च" सूत्र से असि प्रत्यय लगकर बना है। जिसका भाव है अन्धकार का विनाशक। उषस् शब्द की निरुक्ति करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखते हैं–

"ओषति दहति इति उषः स्त्रियां सूर्योदयात् प्राक् प्रभात् प्रकाश उषाः वा।"[3]

अर्थात् जो (अन्धकार को) नष्ट करता है, वह उषः (उषस्) है। सूर्योदय से पूर्व प्रातःकालीन-प्रकाश स्त्रीलिङ्ग में उषा कहलाती हैं।

उषा शब्द उच्छी विवासे धातु से असुन् प्रत्यय लगकर भी सिद्ध होता है। इस अर्थ में यह निरुक्ति बनेगी- **"उच्छति विवासयति नाशयति वा तमांसि"** अर्थात् जो अन्धकार को नष्ट करती है, वह उषा कहलाती है।

वश कान्तौ धातु से भी, कसुन् प्रत्यय लगकर तथा व को सम्प्रसारण होकर उषस् शब्द सिद्ध होता है। निरुक्तकार ने भी 12/5 में द्यु स्थानीय उषा को वश् कान्तौ धात्वर्थक माना है तथा उच्छ धात्वर्थ उषा को माध्यमिका कहा है।

उषाः वष्टे कान्तिकर्मणः। उच्छतेरितरमाध्यमिका।[4]

---

1 बृह. 2/9
2 नि. 2/18
3 उ. को. (दया. वृ.)
4 नि. 12/5

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अर्थात् प्रकाश (कान्ति) करने वाली उषा वश धात्वर्थक है, तथा इतरमाध्यमिका उषा उच्छ धात्वर्थक है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अनेक सूक्तों में उषाः को अन्धकार (अज्ञान) का नाश करने वाली तथा प्रकाशकर्त्री शक्ति के रुप में स्तुत किया है-

एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः।[1]

(दिवः प्रियः) द्युलोक की अत्यन्त प्रिय अथवा द्युतिमान सूर्य की प्रिय (अपूर्व्या एषो उषाः) अद्भुत यह उषा अथवा दिन से पहले प्रकट होने वाली यह उषा (व्युच्छति) अन्धकार को दूर करती है, अथवा विविध गुणों अथवा पदार्थों को प्रकट या प्रकाशित करती है।

इस मन्त्र में व्यच्छति क्रिया पद से 'उषा' की निरुक्ति की गई है। वि+उच्छी विवाशे धात्वर्थ आगृहीत है।

सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः।[2]

(दिवः दुहितः उषा) द्युलोक की दुहिता उषा अथवा सूर्य से उत्पन्न होने के कारण सूर्य की कन्या के समान उषा अथवा प्रकाश को पूर्ण करने वाली उषा (वामेन सह) सुन्दर वस्तुओं के साथ अथवा उत्तम गुणों के साथ (नः वि उच्छ) हमारे अन्धकार अथव अज्ञान को नष्ट करे। अर्थात् उषः काल हमें अन्धकार को नष्ट कर हमें सुन्दर पदार्थों को प्रकाशित या प्राप्त करने वाला हो।

उवासोषा उच्छाच्च नु देवी जीरा रथानाम्।[3]

(रथानां जीराः) शरीर रुपी रथों को गति देने वाली (देवी उषा) दिव्य प्रकाश से युक्त देदीप्यमान उषा (नु उवास उच्छात् च) निश्चय ही चमकी, प्रकाशित हुई तथा अन्धकार को नष्ट किया।

जब उषा काल होता हैं तब मनुष्य या प्राणिगण के शरीर गतिशील होते हैं। क्योंकि उस काल में उषा का प्रकाश फैलने लगता है, तथा अन्धकार नष्ट हो जाता है।

1 ऋ 1/46/1
2 ऋ. 1/48/1
3 ऋ. 1/48/3

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

सुपेशसं सुखं रथं यमध्यस्था उषस्त्वम्।
तेना सुश्रवसं जनं प्रावाद्यदुहितर्दिवः।।[1]

(हे उषः! त्वं यं सुपेशसं सुखं रथं अध्यस्था) हे उषा तुम जिस सुन्दर रूपवान् (पेश इति रूपनाम) सुखयुक्त रथ पर स्थित है, उससे (दुहितर्दिवः) हे द्युलोक की पुत्री उषाः (सुश्रवसं जनम्) इस उत्तम यश वाले अथवा उत्तम विचार वाले मनुष्य की (प्राव) रक्षा करे।

उषा संसार की धरित्री मातृशक्ति के रूप में वेद में वर्णित है। इसलिए वेद में मघोनी, वाजेन वाजिनी, पुराणी, देवी, युवति आदि विशेषणें से सुभूषित किया गया है।

उषो वाजेन प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो माघोनि।
पुराणी देवि युवतिः पुरन्धिरनुव्रतं चरसि विश्ववारे।।[2]

हे अन्न से अन्नवती अथवा गति से गतिमती या विज्ञान से विज्ञानवती उषा! प्रकृष्ट ज्ञान से स्तुति करते हुए तुम मेरी स्तुति को स्वीकार करो। तुम सबके द्वारा वरणीय हो, तुम पुरातन होते हुए भी युवति हो, तुम सदा नियम की पालनकर्त्री हो।

वेद में उषा विदुषी नारी तथा उत्तम पत्नी या मार्ग दर्शिका स्त्री के रुप में भी वर्णित है। सभी विशेषणों को नारी के विशेषण के रूप में स्वीकार किया है। स्वामीदयानन्द जी का भाष्य प्रमाणार्थ प्रस्तुत है-

पदार्थ- हे (वाजिनि) विज्ञानवाली! (मघोनि) अत्यन्त दान ये युक्त (देवि) सुन्दर (विश्ववारे) सब प्रकार वरण करने योग्य स्त्रि! तुम (उषः) प्रातः वेला के सदृश वर्तमान (वाजेन) विज्ञान के साथ (प्रचेताः) उत्तमता से सत्य अर्थ को बताने वाली होती हुई (गृणतः) मुझ स्तुति करने वाले की (स्तोमं) प्रशंसा का (जुषस्व) सेवन करो, जिससे कि (पुराणी) प्रथम नवीन (पुरन्धि) बहुत उत्तम गुणों को ध ारण करने वाली (युवतिः) पूर्व चौबीस वर्ष वाली हुई (व्रतम्) कर्म को (अनु) अनुकूलता में (चरसि) करती हो, इससे हृदयप्रिय हो। इस मन्त्र में स्वामी जी ने आधिभौतिक दृष्टि से उषा को एक आदर्श नारी के रूप में प्रस्तुत किया है।

---

1 ऋ. 1/49/2
2 ऋ. 3/61/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के 124 वें सूक्त में 'उषा' की निरुक्ति 'उच्छन्ती' शतृ प्रत्यायन्त क्रिया पद से की है।

'उषा उच्छन्ती........।[1]

अर्थात् अन्धकार को नष्ट करती हुई उषा। यहाँ उषा का √ उच्छी विवाशे धात्वर्थपरक निर्वचन की प्रस्तुति है।

उषा के विशेषणों से परिपूर्ण ऋग्वेद के तृतीय मण्डल का मन्त्र प्रस्तुत है-

उषो देव्यमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आत्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णा पृथुपाजसो ये।।[2]

अर्थात् हे उषा देवी तुम अमर्त्य हो, अमरणधर्मा हो, तुम चन्द्ररथा हो अर्थात् आह्लादक या आनन्ददायक रथ वाली हो, तुम शोभायुक्त वाणी की प्रेरिका हो, अतः तुम प्रदीप्त होती रहो। जो सुनियन्त्रित तथा सुनहरे घोड़े हैं, वे तुम्हें इधर ले आएँ।

इस मन्त्र में उषा का आलङ्कारिक वर्णन है। उषा अमर्त्या है, वह चन्द्रमा रूपी रथ पर सवार है, इसका अभिप्राय है, मानो रात भर चन्द्रमा के प्रकाश के रथ पर सवार होकर यात्रा करती हुई, प्रातः काल प्रकट हुई हो, उषा शोभन वाणी को प्रकाशित करती हैं, अर्थात् जब उषाकाल होता है, तब सभी प्राणी मधुर वाणी करते है, मानो उषा का स्वागत करते हैं। प्रभातवेला की ईरयन्ती अर्थात् प्रेरिका है। प्रातःकाल अर्थात् उषाकाल सबको स्फूर्ति प्रदान कर कर्म में प्रेरित करता है। प्रातःकाल (उषाकाल) सुनहरे रंग का प्रकाश लेकर आता है, मानो उषा सुनहरे घोड़े के रथ पर चढ़कर आई हो। प्रातः कालीन सूर्य की किरणें ही उसके अश्व हैं, तथा वे सुनियन्त्रित तथा बलशाली हैं। यहाँ उषा अर्थात् प्रभातवेला का बहुत ही आलङ्कारिक वर्णन प्राप्त है।

---

1 ऋ. 1/124/1
2 ऋ. 3/61/2

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अश्विनौ

देवता निर्धारक सम्बन्धी बृहद्देवतादि ग्रन्थों में अश्विनौ अर्थात् अश्विनद्वय को सूर्य स्थानीय देवों में मुख्यतम माना है।

तस्य मुख्यतमौ देवौ अश्विनौ सूर्यमाश्रितौ।[1]

इस वर्ग के सूर्य से सम्बद्ध देवों में दो प्रमुख देवता अश्विनद्वय हैं।

महर्षि यास्क ने भी 'अश्विनौ' को द्युस्थानीय देवताओं में सर्वप्रथम माना है।

तासामश्विनौ प्रथमगामिनौ भवतः।

अर्थात् उन द्युस्थानीय देवों में अश्विनौ सर्वप्रथम जाने जाते है। अश्विनौ के आगमन के बाद ही द्युस्थानीय देवताओं के अन्य रूपों का साक्षात्कार होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि–अश्विनौ प्रकृति में उस समय या अवस्था के बोधक है, जब तक आदित्य का उदय नहीं होता है। अर्धरात्रि के बाद जो प्रकाश अन्तरिक्ष में दिखाई देता है।, वह आदित्य के प्रथम रूप का प्रतिनिधि है, तथा दिन और रात का विभेदक है, वही अश्विनौ है। रश्मियाँ विकीर्ण होने पर आदित्य का वही रूप सविता कहलाता है। अश्विनौ देव उषा के आगमन का तथा रात्रि की विदाई के काल का बोधक है। अतः निरुक्तकार ने इसके निर्वचन–प्रसङ्ग में इसकी व्याख्या में अनेक आचार्यो का मत प्रस्तुत करते हुए, इसे 'द्यावा–पृथ्वी' सूर्या–चन्द्रमसौ तथा अहोरात्र कहकर दो तत्त्वों से जुड़ा हुआ देव कहा है। इसका विस्तृत विवेचन आचार्य यास्क की निरुक्ति में किया जाएगा।

अश्विनौ देव में द्विवचन का प्रयोग यह सिद्ध करता है, कि यह दो देवों का युगल (जोड़ा) है। ये दोनों अलग–अलग ढंग से संसार के समस्त स्वरूप को व्याप्त (अशन)करते हैं। दोनों में से एक 'रस' से तथा एक प्रकाश से इस जगत् को व्याप्त (अशन) करता है। √ अशूङ् व्याप्तौ।

---

1 बृहद्दे. 2/8

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

निरुक्तकार ने द्विवचनान्त पद पर प्रश्न करते हुए इसके उत्तर प्रस्तुत किए हैं।

1. तत्कावश्विनौ? द्यावापृथिव्यावित्येके।।

अर्थात् अश्विनौ कौन हैं? कुछ आचार्यों के मत में 'द्युलोक और पृथिवी' अश्विनौ कहलाते हैं। कुछ आचार्यों से निरुक्तकार का अभिप्राय शतपथब्राह्मणकार से है, क्यों कि शतपथ ब्राह्मण में 'द्यावा पृथिवी' को प्रत्यक्ष अश्विनौ कहा है-

इमे ह वै द्यावा पृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ ।
इमे हीद्रं सर्वमश्नुवाताम्।[1]

अर्थात् ये द्यावा और पृथिवी प्रत्यक्ष अश्विनौ है, क्यों ये सब को व्याप्त करते हैं। इसी की व्याख्या में दुर्गाचार्य कहते हैं कि द्युलोक, ज्योति (प्रकाश) से तथा पृथिवी अन्न से सब जगत् को व्याप्त करती है √ अशूड् व्याप्तौ।

2. अहोरात्रावित्येके[2]

कुछ आचार्य दिन और रात को अश्विनौ मानते हैं। क्योंकि दिन प्रकाश से सब जगत को व्याप्त करता है तथा रात्रि ओस से सब जगत् को व्याप्त करती है। अतः दिन और रात अश्विनौ कहलाते हैं। √ अशूड् व्याप्तौ। निरुक्ति विवृत्ति टीका में यही व्याख्या उपलब्ध होती है-

अहर् ज्योतिषा व्यश्नुते रात्रिरवश्यायैः।।[3]

3 सूर्याचन्द्रमसावित्येके।।

निरुक्तकार ने तीसरा पक्ष उन आचार्यो का प्रस्तुत किया है, जिनके मत में ''सूर्य और चन्द्रमा'' अश्विनौ कहलाते हैं। सूर्य ज्योति अर्थात् प्रकाश से तथा चन्द्रमा रस से सब जगत को व्याप्त करता है।

---

1 श.प. ब्रा. 4/1/5/16
2 नि. 12/1
3 नि. वि.टी. 12/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

तत्र सूर्या ज्योतिषा व्यश्नुते रसेन चन्द्रमाः।[1]

निरुक्तकार ने द्विवचनान्त पद पर प्रश्न करते हुए इसके उत्तर प्रस्तुत किए हैं।

4. राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः।[2]

चौथा मत आचार्य यास्क ने ऐतिहासिकों का प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि ''पुण्य करने वाले राजाओं को अश्विनौ कहा गया है।'' स्कन्द स्वामी ने अश्विनौ का अर्थ अश्वों से युक्त होना किया है। आचार्य और्णनाभ ने किन्ही दो पुण्य करते वाले राजाओं की अश्विनौ संज्ञा मानी है। उनका कहना है कि दो राजा बहुत बड़ी संख्या में घोड़ो के स्वामी होने के कारण ही ये अश्विनौ माने गए हैं यहाँ अश्व शब्द से अश्विनौ का निर्वचन किया गया है। वृहद्देवताकार आचार्य शौनक ने यास्क के अश्विनौ के विश्लेषण में एक नया विचार भी प्रस्तुत किया है। उनके विचार में प्राण और अपान भी अश्विनौ कहलाते है क्यों कि प्राण और अपान भी सब शरीरों (पिण्डों) में व्याप्त रहते हैं।

सूर्याचन्द्रमसौ तौ हि प्राणपानौ च तौ स्मृतौ।
अहोरात्रौ च तावेव स्यातां तावेव रोदसी।[3]

अर्थात् दोनों (अश्विनौ) सूर्य और चन्द्रमा हैं तथा प्राण और अपान भी माने गए हैं। वे दोनों (अश्विनौ) ही दिन और रात भी हैं तथा उन्हें ही रोदसी अर्थात् द्यावा-पृथ्वी भी माना गया है। रोदसी द्युलोक और पृथ्वी लोक को कहते हैं। निरुक्त विवृत्ति टीका में अमरकोष का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए रोदसी को द्यावापृथिवी का वाचक माना है- **"द्यावा पृथिव्यौ रोदसी द्यावा भूमीच रोदसी इत्यमरः।**[4]**"**

अश्नुवाते हि तौ लोकान् ज्योतिषा च रसेन च।
पृथक्-पृथक् च चरतौ दक्षिणेनोत्तरेण च।।[5]

---

1 नि.वि.टी. 12/1
2 नि. 12/1
3 वृह. 7/126
4 नि. 4/6
5 वृहद्दे. 7/127

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

क्यों कि ये दोनों (अश्विनौ) अथवा सूर्य और चन्द्रमा प्रकाश और आर्द्रता (रसत्व) से लोकों को व्याप्त करते हैं और ये दोनों ही पृथक्-पृथक् उत्तर और दक्षिण को विचरण करते हैं।

आचार्य शौनक ने शेष बातें तो अश्विनौ के विषय में यास्क के समान ही कहीं हैं, परन्तु दो बातें भिन्न है। एक यह कि प्राण और अपान भी अश्विनौ कहलाते हैं तथा दूसरी यह कि सूर्य और चन्द्र होने के कारण ये उत्तर और दक्षिण दिशा में विचरण करते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 116 वें सूक्त में अश्विनौ को हिम से अग्नि का निवारण करने वाला तथा मनुष्यों के लिए अन्न की ऊर्जा को धारण करने वाला कहा है।

हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्।
ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति।।[1]

हे अश्विनौ! आप (हिमेन) हिम के द्वारा (अग्निं घ्रंसम्) अग्नि के ताप को (अवारयेथाम्) निवारित करो। आप (अस्मै) इस प्राणि मात्र के लिए (पितुमतीम् ऊर्जम् अधत्त) अन्न से युक्त अथवा पितृतुल्य ऊर्जा अथवा बल को धारण करते हो। आप (ऋबीसे) अपगत तेज वाली पृथ्वी पर (अवनीतं सर्वगणं अत्रिं उत् निन्यथुः) नीचे लाई गई सब प्रकार की वुभुक्षा से सन्तप्त प्राणिगण की औषधि रूप में प्राप्त कर के शक्ति को उठाते हो (स्वस्ति) और उनका कल्याण करते हो।

इस मन्त्र में अश्विनौ के काल का संकेत प्राप्त होता है। आचार्य प्रो. शिवनारायण शास्त्री ने निरुक्त मीमांसा नामक ग्रन्थ में द्युस्थानीय देवताओं की व्याख्या के प्रसङ्ग में अश्विनौ का विवेचन प्रस्तुत करते हुए लिखा है-हिमपात अर्धरात्रि के बाद अधिक होता है, क्यों कि शीतलता उस समय सर्वाधिक होती है तथा ओस भी अधिक पड़ती है। इसी प्रकार प्रातःकाल से पूर्व ही औषधियों को इतनी पुष्टि मिल जाती है कि वे बिल्कुल तरोताजा हो जाती हैं तथा बढ़ी हुई हो जाती है। मनुष्य भी अश्वियों से तरोताजा और स्वस्थ हो जाते हैं। इस प्रकार अश्विनौ का काल अर्धरात्रि के बाद तथा उषः काल से पूर्व-या आधीरात से लेकर उषा के आगमन तक होता है निरुक्त में भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है-

Funding by IKS-MoE

1 ऋ. 1/116/8

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

तयोः कालः सूर्योदयपर्यन्तस्तस्मिन्नन्या देवता ओप्यन्ते।[1]

इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य की टीका में कहा गया है। कि

प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भमित्यतः कालात् प्रभृति सूर्योदयपर्यन्तः तयोः कालः।

ततः परं यागकालः[2]

अर्थात् अश्विनौ का काल सूर्योदय काल तक है। इसके बाद अन्यदेवता की स्तुति अर्थात् यज्ञ का समय है।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती की परम्परा के वेदभाष्यकार पं. हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के बाईसवें सूक्त में अश्विनौ को प्राण और अपान का वाचक माना है, इनका अर्थ निरुक्त की अपेक्षा बृहद्देवता के अर्थ के अधिक निकट है। स्वामी जी ने अश्विनौ का अर्थ कहीं द्यावा-पृथ्वी कहीं प्राणापानौ, कहीं अश्व की शक्ति धारण कर्ता के रूप में, कहीं ज्ञान और कर्म तथा कहीं प्राण और अपान भी किया है। यहाँ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 22 वें सूक्त के मन्त्रों का भावार्थ प्रस्तुत है।

प्रातर्युजा विबोधयाश्विनावेह गच्छताम्।
अस्य सोमस्य पीतये।।[3]

(अस्य सोमस्य पीतये) इस सोम के पान के लिए अर्थात् आनन्द की प्राप्ति के लिए (युजा अश्विनौ) संयुक्त प्राण और अपान अथवा सूर्य और चन्द्रमा अथवा दिन और रात अथवा द्युलोक और पृथ्वी अथवा ज्ञान और कर्म (इह आगच्छताम्) यहाँ आएँ अथवा प्राप्त हों, तथा (प्रातः विबोधय) प्रातःकाल (हमें) जागृत करें। इस मन्त्र में अश्विनौ के सभी अर्थों की सङ्गति सम्भव है।

या सुरथा रथीतमोभा देवा दिविस्पृशा।
अश्विना ता हवामहे।।[4]

---

1 नि.मी. पृ. 360 इण्डोलॉजिकल नई दिल्ली
2 नि.वि.टी. 12/5
3 ऋ. 1/22/1
4 ऋ. 1/22/2

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

(या उभा देवा अश्विना) ओ ये दोनों अश्विनौ देव हैं, अर्थात् प्राण और अपान हैं, वे (सुरथा:) उत्तम शरीररूपी रथ वाले हैं। (रथीतमा:) तथा शरीर रूपी रथ का सञ्चालन करने वाले (दिविस्पृशा) दिव्य गुणों से युक्त अथवा द्युलोक को छूने वाले उन्हें (अश्विनों को) हम (हवामहे) पुकारते हैं।

अयं वां मधुमत्तमः सुतः सोमं ऋतावृधा।
तमश्विना पिवतं तिरो अह्न्यं धत्तं रत्नानि दाशुषे।।[1]

हे अश्विनौ! अर्थात् प्राण-अपान दिन (सूर्य) और रात्रि मधुमत्तमः सुतः सोमः) यह मधुरतम निस्यूत किया गया सोम (ऋतावृधा) ऋत को बढ़ाने वाला है। (तिरो अह्न्यं) दिन के तिरस्कृत होने पर उत्पन्न हुए रस को (तं पिवतम्) उस को तुम पियो। क्योंकि अश्विनौ आप (दाशुषे रत्नानि धत्तम्) दानशील व्यक्ति के लिए रत्नों को धारण करते हैं।

इस मन्त्र में अश्विनौ को प्राण और अपान अथवा सूर्य और चन्द्रमा का वाचक कहा है, क्योंकि वे ही सोम अर्थात् रसों के पाता हैं। वे देने के भाव रखने वाले मनुष्यों के लिए रत्नों को धारण करने वाले हैं।

विष्णु

विष्णु भी वेद में सूर्य का ही एक नाम है। अतः यह भी द्युस्थानीय देवों में गिना जाता है। वेदेतर देवशास्त्रीय ग्रन्थों में विष्णु को सूर्य का वाचक कहा गया है, परन्तु इस धारणा का आधार भी वेद ही है। वेद के एक ही मन्त्र में सूर्य के वाचक सभी वैदिक देवों की स्तुति का उल्लेख प्राप्त है।

शंनो मित्रः शं वरुणः शंनो भवत्वर्यमा।
शंन इन्द्रो बृहस्पतिः शंनो विष्णुरुरुक्रमः।।[2]

अर्थात् वह परमेश्वर या सूर्य हमारा मित्र, वरुण अर्थात् वरणीय वह अर्यमा अर्थात् शत्रुओं का नियामक है, वही इन्द्र अर्थात्

Funding by IKS-MoE

---
1 ऋ. 1/47/1
2 यजु. 36/9 ऋ.1/90/9 अथर्व. 19/9/6

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

परमैश्वर्यवान् वही बृहस्पति अर्थात् बहुतों का पालक व रक्षक है, वही विष्णु अर्थात् सब में व्याप्त तथा उन्नत पराक्रम बाला है, वह हमें शं अर्थात् शान्ति का देने वाला हो। उपनिषदों (तैत्तिरीय) में इस मन्त्र का विवेचन किया गया है। यह विष्णु का मुख्य आध्यात्मिक भाव तो सर्वव्यापक परमेश्वर ही है, आधिदैविक भाव सूर्य है। आधिभौतिक भाव हृदय की व्यापक वृत्ति है।

विष्णु सूक्तों के मन्त्रों से उपर्युक्त विवेचन को प्रमाणित करने से पूर्व विष्णु शब्द का विश्लेषण उपस्थित है। महर्षि यास्क ने विष्णु पद के तीन निर्वचन किए है-

अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा।[1]

यद्विविषतो भवति तद्विष्णुर्भवति -

इस निर्वचन की व्याख्या में विवृत्ति टीकाकार लिखते हैं। कि- **यद् यदा विषितः सूर्यो रश्मिभिर्भवति तत् तदा विष्णुः भवति।**

अर्थात् जब सूर्य रश्मियों या किरणों से व्याप्त होता है, तब वह विष्णु होता है। किरणों से परिपूर्ण सूर्य की अवस्था का नाम विष्णु होता है। यह विष्णु का विष्लृ व्याप्त्यर्थक निर्वचन है।

इसकी व्युत्पत्ति उणादि कोष में √ विष्लृ व्याप्तौ धातु से 'विषे किच्च' सूत्र से (<u>30/3/39) 'णु'</u> प्रत्यय होकर विष्णु शब्द सिद्ध होता है। जिसके अर्थ परमात्मा, अग्नि, (सूर्य) पुण्यात्मा तथा विष्णु स्मृति के रचयिता है।

विष्णुर्विशतेर्वा-

महर्षि यास्क की द्वितीय निरुक्ति है- 'विशतेर्वा' अर्थात् जो रश्मियों से सर्वतः आविष्ट या प्रविष्ट है। यहाँ √ विश प्रवेशने धात्वर्थ विवक्षित है। जो सूर्य, रश्मियों से आविष्ट अर्थात् परिपूर्ण हैं। मुख्यभाव वही हैं।

अथवा व्यश्नोतेर्वा-

यहाँ वि उपसर्ग पूर्वक अशूङ् व्याप्तौ, धातु का अर्थ विवक्षित है।

---

1 नि. 12/18

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भाव वही है, जब सूर्य अपनी रश्मियों की अतिशयिता से (विशिष्टत्वेन) व्याप्त होता है, तब विष्णु कहलाता है। अतः विवृत्तिकार कहते हैं- **"यदा रश्मिभिरतिशयेनायं व्याप्तो भवति व्यप्नोति वा रश्मिभिरर्य सर्वं तदा विष्णुरादित्यो भवति।"**[1]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इन्हीं निर्वचनो को अपने वेदभाष्य में अधः प्रदत्त शब्दों में परमात्मा का वाचक कहा है-

वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमात्मा।[2]

जो चराचर जगत् में व्याप्त है, वह परमेश्वर विष्णु कहलाता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने यजुर्वेद भाष्य में एकत्र विष्णु की इसी निरुक्ति को यज्ञ का वाचक कहा है, इसका कारण कदाचित् शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ की एक निरुक्ति विष्णु परक भी है- **"यज्ञो वै विष्णुः"** अर्थात् यज्ञ विष्णु हैं। स्वामी जी ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है-

"यो वेवेष्टि व्याप्नोत्यन्तरिक्षस्थलवाय्वादि पदार्थान् स यज्ञः विष्णुः"[3]

अर्थात् जो अन्तरिक्ष, स्थल और वायु आदि पदार्थों में व्याप्त है, वह यज्ञ विष्णु कहाता है।

ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु को यज्ञ कहा गया है- "विष्णुर्वै यज्ञः।"[4]

बृहद्देवता में आचार्य शौनक ने भी महर्षि यास्क कृत निर्वचनों के सभी धात्वर्थों को विष्णु पद विवेचन में स्वीकार किया है-

विष्णातेविशतेर्वा स्यात् वेवेष्टेर्व्याप्तिकर्मणः।
विष्णु निरुच्य सूर्यः सर्वं सर्वान्तरश्च यः।।[5]

अर्थात् व्याप्ति को व्यक्त करते हुए 'विष्णु' नाम विष् विष्णाति अथवा √ विश् (विशति) अथवा √ वेविष्' (वेवेष्टि) धातुओं से व्युत्पन्न हुआ है। अतः विष्णु की उस सूर्य के रुप में व्याख्या की गई है, जो सब कुछ को व्याप्त किए हुए है, और सब में व्याप्त है।

1 नि. 12/18
2 ऋ. 3/55/10, यजु. 34/43
3 यजु. 1/4/ दया.भा.
4 ऐ.ब्रा. 1/15
5 वृहद्दे. 2/69

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के बाईसवें सूक्त के कतिपय मन्त्रों में विष्णु के स्वरुप का विवेचन इस प्रकार है-

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे।।[1]

परमेश्वर पक्ष में - (विष्णुः) व्यापक परमेश्वर ने (इदं पदम्) इस जानने अथवा प्राप्त करने योग्य (√ पद गतौ) जगत् को (त्रेधा विचक्रमे तीन प्रकार से पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के रूप में रचा । (समूढम् पांसुरे निदधे) तथा सूक्ष्म रूप को धूल धूसरित अर्थात् रेणुओं से परिपूर्ण आकाश में स्थापित किया है। इस अर्थ की दृष्टि से विष्णु शब्द यहाँ व्यापक परमेश्वर का वाचक है।

सूर्य पक्ष में - (विष्णुः) सूर्य ने (त्रेधा विचक्रमे) तीन प्रकार अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में विभक्त जगत् में पृथिवी में अग्नि रूप से अन्तरिक्ष में विद्युत रूप से तथा द्युलोक में प्रकाशमय (सूर्य) रूप से (निदधे पदम) गति की। (समूढमस्य पांसुरे) जैसे धूलिमय प्रदेश में पदचिन्ह दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार अन्तरिक्ष में इसका सूक्ष्मरूप दिखाई नहीं देता।

जीवात्मा पक्ष में- (विष्णुः) व्यापक उन्नति करने वाले जीव ने (इदं) यह (विचक्रमे) विशेष पुरुषार्थ किया है कि (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदम) कदम को (निदधे) रखा है। इस जीव ने केवल शारीरिक अथवा केवल मानसिक या केवल बौद्धिक उन्नति न करके तीनों की समन्वित उन्नति की है। इसने शरीर को नीरोग, मन को निर्मल और बुद्धि को तीक्ष्ण बनाया है। इस प्रकार तीन प्रकार से उन्नति प्राप्त इस जीव ने (पांसुरे) इस धूलि से बने पार्थिव शरीर में (समूढम्) सम्यक् कर्तव्य का वहन किया है।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के 22 वें सूक्त के 16 वें मन्त्र में विष्णु का विवेचन इस प्रकार है-

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे।
पृथिव्याः सप्त धामभिः।।[2]

1 ऋ. 1/22/17
2 ऋ. 1/22/16

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

परमेश्वर पक्ष में- (यतः) जिससे (विष्णुः) व्यापक परमेश्वर ने (पृथिव्याः) पृथिवी से लेकर (सप्तधामभिः) सातों लोकों को धारण करने वाले सात पदार्थों से (विचक्रमे) इन लोको रचा है। अतः (देवाः) सभी देवता या दिव्य शक्तियाँ (नो) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें।

सूर्य पक्ष में- (यतः विष्णुः) जिससे व्यापक सूर्य ने (सप्त धामभिः) सात प्रकार की (सतरङ्गी) धारण की हुई किरणों से (पृथिव्याः) पृथिवी का (विचक्रमे) परिक्रमण किया है। (अतो देवा नो अवन्तु) अतः वे सूर्यादि देवगण हमारी रक्षा करें। पृथिवी यहाँ शरीर की भी वाचिका है। अतः शरीर के सात धाम (महत्तत्व, अहंकार, एवं पञ्चतन्मात्राएँ) रूप अथवा रस, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा, और शुक्र इन सातों से निर्मित इस पार्थिव शरीर की रक्षा करे।

कतिपय भाष्यकारों नें विष्णु का अर्थ राजा भी किया है। क्यों कि वेद में विष्णु की जिन शक्तियों का वर्णनं मिलता है, वे शक्तियाँ राजा में प्राप्त होती हैं। अतः राजा अर्थ में भी विष्णु शब्द का प्रयोग सम्भव है। ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। वहाँ विष्णु में सभी देवता समाहित किए गए हैं-

विष्णुः सर्वा देवताः।[1]

इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में अग्नि को सर्व प्रथम देवता और विष्ण ाु को अन्तिम देवता के रुप में वर्णित किया है, शेष देव इन्ही के मध्य समाहित माने गए है।

अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः।[2]

विष्णु के परम देवत्व भाव का ही विस्तार पुराणों में उपलब्ध होता है। विष्णु के सभी विशेषणों में मूल भाव व्याप्ति का ही है। √ विष्लृ व्याप्तौ।

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में विष्णु की विशेषता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ऐसा कोई नहीं हुआ जो विष्णु की महिमा के अन्त को पा सके।

Funding by IKS-MoE

1 ऐत. ब्रा. 1/1
2 ऐत.ब्रा 1/1

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

न ते विष्णो जायमानो न जातो महिम्नः परममन्तमाप।।[1]

विष्णु की सबसे प्रमुख विशेषता उनके तीन कदम है। निम्न मन्त्रों में इसका उल्लेख प्राप्त है-

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधेपदम्।
समूढमस्य पांसुरे।।[2]

उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या की जा चुकी है।

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्।।[3]

(अदाभ्यः) अविनाशी होने से किसी रोगादि से हिंसित न होने वाला (गोपाः) सब प्रकार से रक्षक (धर्माणि धारयन्) धर्मों पुण्यकर्मों के ज्ञान अथवा प्रकाश को धारण करते हुए (विष्णुः) व्यापक विष्णु ने (त्रीणि पदा विचक्रमे) तीन कदमों से पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक को प्रकाशित किया।

तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्च न पतयन्तः पतत्रिणः।[4]

इस विष्णु के दो पग तो मनुष्यों को दिखाई देते है, परन्तु सर्वोच्च तृतीय पग (पद) पक्षियों की उड़ान से भी परे है। इस मन्त्र में सूर्य या परमेश्वर के द्युस्थान स्थित या मोक्ष धाम की ओर संकेत है।

तृतीये धामन्नध्यैरयन्त।[5]

प्रभु के उस मोक्ष रूप तृतीय धाम में (विद्वान्) विचरण करते हैं। यह मोक्ष धाम ही विष्णु परमेश्वर का परम धाम है। इसी प्रकार यह स्थावर और जंगम जगत् सूर्य के पृथिवीस्थ और अन्तरिक्षस्थ प्रकाश तक पहुँच सकते हैं। द्युलोक में प्रकाशित सूर्य के तृतीय धाम तक कोई नहीं पहुँच सकता, क्यों कि वहाँ उसका ताप और प्रकाश सर्वोच्च है।

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के सौवें सूक्त में 'त्रिक्रमण' का उल्लेख है।-

1 ऋ. 7/99/2
2 ऋ. 1/22/17
3 ऋ. 1/22/18
4 ऋ. 1/155/5
5 यजु. 32/10

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

त्रिर्देवः पृथिवीमेष एतां विचक्रमे शतर्चसं महित्वा।
प्रविष्णु स्तुतवसस्तवीयान् त्वेषं ह्यस्य स्थविरस्य नाम।।[1]

इस दिव्य गुणयुक्त देव ने अपनी महिमा से इस शतधा स्तुत्य पृथिवी का तीन बार विक्रमण किया है। प्रकृष्ट अर्थात् महानतम विष्ण ु सबके (स्थविर प्राणियों) के मन में प्रकृष्टता को प्राप्त करो। क्योंकि आप ही तो सबसे महान हो।

उक्त मन्त्रों में विष्णु के तीन पदों की विशेषता के कारण ही विष्णु को त्रिविक्रम, उरुक्रम, त्रिधातु तथा उरुगाय आदि विशेषणों से मण्डित किया गया है।

तीनों लोकों को धारण कर्ता के रुप में विष्णु की स्तुति का मन्त्र जिसमें विष्णु को त्रिधातु पद से सम्बोधित किया है, देखिए-

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमृतद्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा।।[2]

(यस्य) जिस विष्णु के (त्री पदानि) तीन कदम (मधुना पूर्णा) मधु से पूर्ण हैं। अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक सूर्य के प्रकाश रूपी मधुरता से परिपूर्ण हैं। अथवा उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों मधुरता से भरे हैं। प्रलयकाल की शान्ति अथवा मोक्ष का आनन्द भी मधुरता से भरा होता है। (अक्षीयमाणाः) उसके आनन्द के स्रोत कभी क्षीण नहीं होते। (स्वधया मदन्ति) अपनी शक्ति से ये विष्णु सबको आनन्दित करते हैं। (य उ एकः) जो अकेला ही (पृथिवी, द्याम) पृथिवी, द्युलोक तथा (विश्वा भुवनानि) सब लोकों को (तीनों लोको को) (त्रिधातुः) धारण करने के कारण त्रिधातु रुप होकर (दाधार) धारण कर रहा है।

---
1 ऋ. 7/100/3
2 ऋ. 1/154/4

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अष्टम अध्याय
स्त्री देवता

जैसा कि आरम्भिक अध्यायों में बताया गया है, कि देवता वाचक शब्द तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त हुआ है। देवः' पुल्लिङ्ग शब्द है, जो दिव्य गुणों से युक्तता का वाचक है, इसी प्रकार 'देवता' स्त्री लिङ्ग शब्द है, जो देव शब्द के अर्थों का ही बोधक है। इसी तरह 'दैवतम्' जो नपुंसक लिङ्ग शब्द है, वह भी 'देव' शब्द के गुणों व अर्थों का ही वाचक है। इसकी व्याख्या हम इन शब्दों के विवेचन प्रकरण में कर चुके हैं। यद्यपि एक ही प्रकार के द्रव्य 'जल' के वाचकशब्द तीनों लिङ्गों में पाए जाते हैं। जैसे- जलम्, नीरम् तोयम्, वारि, अम्बु आदि नपुंसक लिङ्ग शब्द हैं। इसी प्रकार आपः जलवाचक शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग और नित्य बहुवचन है, तथा 'रसः' शब्द जल का वाचक है, तथा पुंल्लिङ्ग है। वस्तु की प्रकृति जो भी हो, परन्तु संस्कृत भाषा में लिङ्ग शब्द में नियत होता है। लोक में यह प्रवृत्ति वैदिक शब्दों से ही आयी है, क्योंकि लौकिक संस्कृत का आधार तो वैदिक संस्कृत ही है। वेद की एक और विशेषता है कि 'देव' या 'देवता' वाचक शब्द भौतिक वस्तु सूर्य, चन्द्र, जल, पृथिवी आदि के साथ परमात्मा के वाचक भी हैं। इसी प्रकार स्त्रीलिङ्गवाचक कतिपय शब्द ऐसे भी हैं, जो देवता की प्रकृति के साथ स्वयं भी स्त्रीलिङ्ग हैं। जैसे वाक् (वाणी) सरस्वती, लक्ष्मी, उषाः, आदि। ये शब्द और इनके वाचक देवता की प्रकृति भी स्त्रीरूपा है। अतः यहाँ केवल उन देवताओं का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं, जो

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

प्रकृति से भी स्त्री रूपा हैं, तथा जिनके वाचक शब्द भी स्त्रीलिङ्ग हैं। यद्यपि उषाः (उषस्) आपः आदि देवताओं का विवेचन अन्तरिक्ष एवं द्युस्थानीय देवताओं के प्रकरण में किया चुका है, तथापि कतिपय प्रमुख स्त्री देवताओं का विवेचन स्थालीपुलाक-न्याय से किया जा रहा है। शेष देवताओं की प्रकृति एवं स्वरूप का ज्ञान, सुधी पाठकों के अध्यवसाय पर आश्रित है। वस्तुतः वेदों में देवता बहुसंख्य हैं। सब देवों का विवेचन तो विशालकाय ग्रन्थाकार हो जाएगा। अतः पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय, द्युस्थानीय तथा स्त्री देवों के रूप में कतिपय प्रमुख देवों का विश्लेषण इस लघु ग्रन्थ में सप्रमाण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

वाच् (वाक्/ वाणी)

वाच् या वाक्- देवी का अर्थ है- वाणी। निरुक्त में इसकी एक ही शब्द में निरुक्ति की है। **वाक् कस्मात्? वचेः।**[1]

अर्थात् वाक् केसे-बोलने से।

निघण्टु में इसका विवेचन निम्न प्रकार है- **वाक् (वाणी)। उच्यन्ते इति वाक् इन्द्रियम्, तत्कार्यः शब्दोऽप्युच्यते इति वाक्, उच्यतेऽनया अर्थः इति वाक्, स्तनयित्नु लक्षणा माध्यमिका सापि उच्यते इति वाक्, तदधिष्ठात्र्यपि देवता वागिष्यते। √ वच्+क्विप्।**[2]

क्यों कि (लोग) इससे बोलते है, इसलिए यह वाक् है, यह एक इन्द्रिय है। इसका कार्य शब्द करना है तथा इससे अर्थ भी अभिव्यक्त होता है, अर्थात् यह शब्द और अर्थ की अभिव्यक्ति का साधन है। जो माध्यमिका (वाणी) सरस्वती है, वह भी वाक् कही जाती है। उसकी अधिष्ठात्री भी (पश्यन्ती) वाग् देवता के रूप में ज्ञानी जाती है। निघण टु में वाणी के सत्तावन नाम दिए गए हैं। जिनमें सरस्वती देवता भी वाणी का ही रूप है।[3]

तत्र सरस्वती इत्येतस्य नदी देवतावच्च निगमा भवन्ति। व्याकरण शास्त्र में √ वच परिभाषणे धातु से औणादिक सूत्र "क्विप् वचि प्रच्छिश्रिसुद्रु प्रुज्वां

1 नि. 2/23
2 नि. 1/11/50
3 सरस्वती माध्यमिका वाक्। नि.वि.टी. 11/28

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

दीर्घोऽसम्प्रसारणं च।"[1] से क्विप् प्रत्यय तथा सम्प्रसारण न होकर दीर्घ होता है। साथ ही स्वामी दयानन्द वृत्ति में वाक् की व्युत्पत्ति भी दी है– **"वक्ति शब्दानुचारयति यया सा वाक्"**। अर्थात् जिससे शब्दों का उच्चारण किया जाता है, वह वाक् कहलाती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने[2] सत्यस्वरूपा वेदरूपा वाणी को ही वाक् माना है।

वचन्ति वाचयन्ति सर्वाविद्या यया ताम्। सत्यलक्षणां वेदचतुष्टयीम्।[3]

यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय के दूसरे ही मन्त्र में वेद की वाणी को कल्याणी वाक् कहा है।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः .....।[4]

अर्थात् मैने इस कल्याणी वाक् (वेद) वाणी को सब प्राणियों के (कल्याण) के लिए कहा है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 78 वें सूक्त में वाणी के प्रयोग के लिए 'मधुमद्वचः' शब्द का प्रयोग किया है।

अवोचाम रहूगणा अग्नये मधुमद्वचः।
द्युम्नैरभि प्रणोनुमः।।[5]

अर्थात् रहूगण (त्यागीजन) √ रह् त्यागे, (अग्नये) ज्ञान व प्रकाशरूप प्रभु के लिए (मधुमद्वचः) मधुरता युक्त वचनों को या मधुर वाणी को (अवोचाम्) बोलें अर्थात् प्रयोग करें। (द्युम्नैः) यश व सुख की प्राप्ति हेतु (अभिप्रणोनुमः) हम प्रतिदिन प्रणाम करते हैं।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के ज्ञानसूक्त में वाणी की महिमा, उसका प्रयोग तथा समुचित उपयोग का परिणाम, कौन इस वाणी का निष्फल प्रयोग करता है? आदि विषयों का विवेचन किया गया है। इसमें बृहस्पति या वाचस्पति को परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी का मूल कहा है। उदाहरणरूप इस सूक्त के कतिपय मन्त्र प्रस्तुत हैं।

---

1 नि. 2/23
2 यजु. भाष्य 2/18
3 यजु. 2/18
4 यजु. 026/2
5 ऋ. 1/78/05

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः।।[1]

अर्थात् हे बृहस्पति, वस्तुओं के नामों को धारण करते हुए ऋषि जो प्रथम वाणियों की सृष्टि के आदि में प्रेरणा करते हैं, जो इनका उत्तम पाप रहित वचन था, वह गूढ बुद्धि में निहित था, वह इनके प्रेम से प्रकट हुआ।

अगले मन्त्र में वाणी के प्रयोग की विधि तथा उसके सही प्रयोग के परिणाम का उल्लेख है।

सक्तुमिव ततउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायाः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।।

अर्थात् जैसे सत्तू छलनी (छाननी) में छान कर पीने योग्य होते हैं, वैसे ही बुद्धिमान् लोग मन की छलनी में छानकर वाणी का प्रयोग करते हैं अर्थात् मनन या चिन्तन कर वाणी का प्रयोग करते हैं। जो वाणी पहले परिणाम पर चिन्तन कर, प्रयोग की जाती हैं, वह सबको अपना मित्र बना लेती है। अर्थात् जो लोग सोच और विचार कर वाणी का प्रयोग करते हैं, उनके सब मित्र बन जाते हैं, तथा उनकी वाणी में भद्रलक्ष्मी निवास करती है। अर्थात् कल्याणकारी सफलताएँ प्राप्त होती हैं।

इसी सूक्त के छठे मन्त्र में कौन वाणी द्वारा सत्य और सुकृत (उत्तम कर्मों) के मार्ग को जानता है? इस विषय का सजीव वर्णन किया गया है।

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेदसुकृतस्य पन्थाम्।।[2]

अर्थात् जिसने सब सत्यविद्याओं के मूल वेदरूपी सखा अथवा जीवत्मा के अन्तर्यामी सखा परमेश्वर को त्याग दिया उसका वाणी में भी भाग नहीं होता। वह संसार की मिथ्या वाणी को ही सुनता है तथा इसी प्रकार (सुकृत) उत्तम कर्मों के मार्ग को भी नहीं जान पाता है। सन्मार्ग

Funding by IKS-MoE

1 ऋ. 10/71/1
2 ऋ.10/71/6

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

की प्रेरणा तो वेदादि सच्छास्त्रों अथवा प्रभु के द्वारा ही प्राप्त होती है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का 125 वां सूक्त भी वाक् सूक्त वाग् आम्भृणी अथवा श्री सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। इस सूक्त के ऋषि-वाक् आम्भृणी तथा देवता (विषय) भी वाग् आम्भृणी है। ऋग्वेद के महत्त्वपूर्ण सूक्तों में से एक हैं। इस सूक्त में वाक्तत्व शब्दब्रह्म या वाग्देवी का ब्रह्म के रूप में वर्णन किया गया है। वही इन्द्र, अग्नि, सोम, मित्र वरुण आदि दैवी शक्तियों की ऊर्जा का स्रोत है। वाणी के प्रभाव से ही ऋषि मुनि तथा योगी मेधावान् बनते हैं। उदाहरण स्वरूप कतिपय मन्त्र भावार्थ सहित प्रस्तुत हैं-

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।।[1]

अर्थात् मैं रुद्र और वसुओं के साथ विचरती हूँ। मै आदित्यों और विश्वेदेवों (समस्त देवताओं) के साथ विचरण करती हूँ। मैं मित्र और वरुण को धारण करती हूँ, मैं ही इन्द्र और अग्नि को तथा अश्विनौ को भी धारण करता हूँ।

संसार की सभी प्रमुख प्राकृतिक शक्तियाँ ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य तथा सभी युगल देवों की सञ्चालिका वही वागाम्भृणी शक्ति है। यह वागाम्भृणी शक्ति ईश्वर की ज्ञानमयी शक्ति है, जिससे सभी देवता दिव्यत्व को प्राप्त करते हैं, जो संसार के सञ्चालक हैं।

पौराणिक जगत् में वेद के इस सूक्त को देवीसूक्त के नाम से जाना जाता है। यह आम्भृणी वाग् देवी क्या है? सबका भरण-पोषण करने वाली प्रभु की आवाज ही आम्भृणी वाक् है। इसे ही वेद वाणी भी कह सकते है, क्यों कि सर्व-सत्यविद्यारूपा है। संसार के सब काम उस परमपिता परमात्मा की आज्ञारूप वाणी से सञ्चालित हैं।

मार्कण्डेय पुराण में देवी दुर्गा और महिषासुर के संग्राम की कथा के माध्यम से इस सूक्त का महत्व प्रतिपादित किया है। कहानी इस प्रकार है- जब महिषासुर ने सब देवों को परास्त कर, सब लोकों पर अधिकार कर लिया तब सब देवता ब्रह्मा जी को लेकर विष्णु और शंकर

1 ऋ. 10/125/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जी के पास गए। देवों की व्यथा सुनकर कुपित हुए विष्णु और शंकर के शरीर से एक तेज निकला, और देवों के शरीर से भी तेज निकला। यह एकत्रित तेज ही दुर्गारूप हो गया। सब देवों ने उस दुर्गादेवी को शस्त्र प्रदान किए। तत्पश्चात् युद्ध हुआ जिसमें महिषासुर परास्त हुआ। दुर्गा जी की कथा देवी सूक्त की काव्यमयी कथा है। दुर्गा सप्तशती के अन्त में यह सूक्त देवी सूक्त के नाम से छपा है। इस कथा की शिक्षा यह है कि- सब लोगों के तेज का संग्रह एक बड़ी शक्ति बनती है, जो दुर्गा का रूप है। शक्ति संगठन में है- "संघे शक्तिः" वेद में भी संगठन सूक्त की यही प्रेरणा है। इस सूक्त के तीसरे ही मन्त्र में कहा गया है। "अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्"[1] में राष्ट्र में बसने बालों की संगठित शक्ति हूँ। देश की संगठन शक्ति ही रुद्र (सेनापति) को शस्त्र प्रदान करती है। वही सबकी मित्र-रूपा रक्षाकर्त्री व वरणीय (वरुण) है। वही भरण-पोषण करने वाली आम्भृणी है। इस सूक्त में संगठन के महत्व व राष्ट्रधर्म की शिक्षा दी गई है।

इस सूक्त के छठे मन्त्र में वाग्देवी का महत्व इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है-

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवाउ।
अहं जनाय समदं करोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश।।[2]

मैं रुद्र के धनुष का विस्तार करती हूँ, (ब्रह्मद्विपे) ज्ञान के द्वेषी अर्थात् विद्वानों से द्वेष करने वालों के लिए भी धनु का विस्तार करती हूँ। मैं (जनाय समदं करोमि) मनुष्यों को आनन्द से भरपूर करती हूँ। मैं ही (द्यावा पृथिवी आ विवेश) द्युलोक और पृथिवी लोक में व्यापक हूँ।

इस मन्त्र में वाग्देवी के रूप ब्रह्म के रक्षक, आनन्दमय तथा व्यापक स्वरूप का वर्णन है।

वृहद्देवता में वाणी को देवताओं का वाहन कहा गया है। देवताओं की गति का आधार वाणी है। यही वाणी का तेज उनका आयुघ (शस्त्र) है। देवता (विद्वान्) के पास उसका तेज और उसकी वाणी ही उसका शस्त्र तथा वाहन होता है।

1 ऋ. 10/125/3
2 ऋ. 10/125/6

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

तेजस्त्वेवायुधं प्राहुः वाहनं चैव यस्य तत्।
इमामैन्द्रीं च दिव्यां च वाचमेवं पृथक् स्तुताम्।।[1]

ऋषियों का कहना है कि तेज ही देवताओं का आयुध होता है। इसी प्रकार पृथिवी, अन्तरिक्ष (ऐन्द्र) तथा दिव्य लोकों में वाणी की इन देवताओं के वाहन के रूप में स्तुति करनी चाहिए।

वाग् देवता का महत्व प्रतिपादित करते हुए वृहद्देवता के द्वितीय अध्याय में एक श्लोक इस प्रकार प्राप्त होता है-

वाचा वेदा अधीयन्ते वाचा छन्दांसि तत्र ह।
अथो वाक् सर्वमेवेदं तेन वाचस्पति स्तुतः।।[2]

क्यों कि वेदो को वाणी द्वारा जाना जाता है, तथा वेदमन्त्रों (छन्दों) का वाणी द्वारा ही उच्चारण किया जाता है। वाणी विश्वरूपा है। अर्थात् वाणी सारे जगत् के जानने का आधार होती है। इसीलिए वाचस्पति के रूप में उस परमेश्वर की स्तुति की जाती है।

सरस्वती

'वेदवाणी' या 'वाणी' का ही एक नाम सरस्वती है। वैदिक साहित्य में सरस्वती नदी को भी कहते है। निरुक्त में भी सरस्वती को देवता और नदी दोनों अर्थों में स्वीकार किया है-

तत्र सरस्वती त्येतस्य नदी वृहद्देवतावच्च निगमाः भवन्ति।[3]

अर्थात् वहाँ वेदों में सरस्वती यह शब्द नदी और देवता इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है।

निरुक्त के नवम अध्याय में सरस्वती का निर्वचन नदी परक किया गया है-

सर इति उदक नाम सर्तेः तद्वती।[4]

सर पानी को कहते हैं, वह गति करता है, अतः गतिशीला होने से

1 वृह. 1/4
2 वृह. 2/45
3 नि. 2/23
4 नि. 9/26

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

वह सरस्वती नदी कहलाती है। √ सृ गतौ धात्वर्थक निर्वचन है।

वैदिक निर्वचन कोष में डॉ. ज्ञान प्रकाश शास्त्री निघण्टु को उद्धृत करते हुए लिखते हैं-

अर्थात् सरस्वती वाणी है, ज्ञान का हेतु होने से। गद्य पद्य रूप में प्रसारित होने से। √ सृ गतौ। गति शब्द के तीन अर्थ हैं- ज्ञान गमन और प्राप्ति। सरस्वती गद्य तथा पद्य के रूप में प्रसारित (सृ गतौ) होती है। अतः वह गद्य पद्यमय साहित्य ज्ञान का हेतु सरस्वतीरूप है। निरुक्त में सरस्वती को मध्यस्थाना देवीवाक् कहा है।

व्याकरणशास्त्र में सरस्वती शब्द √ सृ गतौ धातु से **"सर्वधातुभ्योऽसुन्"** इस औणादिक सूत्र से (4/120) से असुन् प्रत्यय लगकर सरस् + मतुप् तथा स्त्री प्रत्यय डीप् लगकर सिद्ध होता है। जिसका अर्थ नदी तथा वाक् दोनों होता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद में यह निरुक्ति प्रस्तुत की है-

सरन्ति जानन्ति येन तत् सरो ज्ञानं तत्प्रशस्तं विद्यते
यस्या वाचि तस्यै (सरस्वत्यै)[1]

√ सृ गतौ। जिसमें ज्ञान विद्यमान रहता है, तथा जिससे ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, वह वेद वाणी, सरस्वती कहलाती है।

इसी प्रकार की व्युत्पत्ति स्वामी जी ने उणादि कोष की दयानन्द वृत्ति में की है-

सरो विज्ञानमुदकं वा विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती वाक् नदी वा।[2]

अर्थात् सर जल या ज्ञान है जिसमें, वह सरस्वती, वाणी या नदी कहलाती हे।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के तृतीय सूक्त के मन्त्र सं 10,11,12 में सरस्वती देवता की स्तुति की गई है।

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टु धियावसुः॥[3]

---

1 यजु. 2/20
2 द.वृ.उ.को.4/190
3 ऋ. 1/3/10,

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अर्थात् (वाजेभिः) अन्नो से, बलों से, ऐश्वर्यों से, ज्ञानों से (वाजिनीवती) अन्नवती, बलबती, ऐश्वर्यवती व ज्ञानवती (सरस्वती) ज्ञानमयी वेद-वाणी, शुद्धजलों से युक्त नदी अथवा ज्ञान के धारक विद्व ज्जन (नः पावका) हमें पवित्र करने वाले हैं। वे (धियावसुः) उत्तम कर्म युक्त, उत्तम बुद्धि (ज्ञान) युक्त होकर (यज्ञं वष्टु) यज्ञ को शिल्प व्यवहार, विद्याभ्यास या आत्मा को प्रकाशित करे।

सरस्वती (ज्ञान) मनुष्य को पवित्र करता है, उत्तम धनों को प्राप्त कराता है।, उत्तम कर्म का प्रेरक होता है, व यज्ञों का विधायक है। यहाँ सरस्वती ज्ञान के देवता नदी व वाणी का वाचक है।

महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना।
धियो विश्वा विराजति।।[1]

(सरस्वती) वेद वाणी, नदी, ज्ञान की देवी (महो अर्णः) महान् ज्ञान का सागर, बहुत जल वाली, ज्ञान का भण्डार है। (केतुना) ज्ञान के प्रकाश से (प्रचेतयति) चेतना, प्रकाश प्रदान करती है। यह (विश्वाधिया) समस्त ज्ञान अथवा कर्मो को (विराजति) अनेक प्रकार से प्रकाशित करती है।

इस मन्त्र में भी सरस्वती शब्द पूर्वोक्त अर्थो का ही वाचक है। वेद वाणी (सरस्वती) ज्ञान का सागर है, सब सत्य विद्याओं का मूल स्रोत है, अपने प्रकाश से सबकी बुद्धियों व कर्मो को तथा अन्तःकरणों को चेतना प्रदान करती है।

ऋग्वेद दशम मण्डल के सत्रहवें सूक्त के मन्त्र संख्या 7, 8, 9 में सरस्वती के स्वरूप का विवेचन है।

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्।।[2]

(देवयन्तो) देव पद की इच्छा करने वाले (विद्वान्) (सरस्वतीं हवन्ते) ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी (वेद वाणी) सरस्वती का आवाहन करते हैं। (अध्वरे तायमाने) यज्ञ के विस्तृत होने अर्थात् हिंसा रहित

1 ऋ. 1/3/12
2 ऋ. 10/17/7

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

ज्ञान या कर्म के विस्तार पाने पर सरस्वती को पुकारते हैं। प्रभु के आवाहन के लिए मस्तिष्क या हृदय का हिंसा रहित होना आवश्यक है, इसीलिए योगदर्शन के अष्टाङ्गयोग में पहला यम अहिंसा कहा गया है। (सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त) सुकृत अर्थात् पुण्यात्मा लोग सरस्वती का ही आवाहन करते हैं। (सरस्वती दाशुषे) सरस्वती दानशील व्यक्ति के लिए (वार्यदात्) वरण करने योग्य ज्ञान, धनादि प्रदान करती है। इसी सूक्त का एक और मन्त्र देखिए–

सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणायज्ञमभिनक्षमाणाः।
सहस्रार्घमिकऽो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि।।[1]

(यज्ञमभिनक्षमाणाः) आध्यात्म यज्ञ को प्राप्त हुए (पितरः) पितर अर्थात् गृहस्थ जन (यां सरस्वतीं) जिस वेद ज्ञान युक्त विदषी को (दक्षिणा) आत्म समर्पण से (हवन्ते) पुकारते हैं, या स्वीकार करते हैं। (अत्र) यहाँ (सहस्रार्घ) हजारों प्रकार से पूज्य या उपयोगी (रायस्पोषं भागं) सेवनीय अर्थात् अन्न के भजनीय भाग को (यजमानेषु) यजमानों में दानशील जनों में (धेहि) धारण करो।

वेद के सभी मन्त्रों में सरस्वती का वेदवाणी, वाक्, विदुषी, स्त्री, नदी तथा ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी आदि अर्थो में प्रयोग हुआ है।

लक्ष्मी

यद्यपि वेद में लक्ष्मी शब्द देवता के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, तथापि लक्ष्मी शब्द का प्रयोग वेद में उपलब्ध है। वैदिक शब्दो के निर्वचन करने बाले ग्रन्थों में लक्ष्मी शब्द का विस्तार से विवेचन हुआ है। यह वेद का लक्ष्मी शब्द पौराणिक साहित्य में धन की देवी के रूप में वर्णित है। वैदिक साहित्य में लक्ष्मी का स्वरूप क्या है? वेद में रुचि रखने वालों के लिए यह जानना आवश्यक मानकर वेद व्याख्याताओं की दृष्टि में लक्ष्मी के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत है।

व्याकरण की दृष्टि से लक्ष्मी शब्द √ चुरादिगणीय दर्शनाङ्कनयोः धातु से "लक्षेर्मुट्च" इस औणादिक सूत्र से ई प्रत्यय तथा मुडागम होकर

Funding by IKS-MoE

1 ऋ.10/17/9

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

सिद्ध होता है। इस दृष्टि से लक्ष्मी का अर्थ हुआ, जो देखे व अङ्कित करे, वह लक्ष्मी है। उणादि कोष के "**लक्षेर्मुट्च**" सूत्र की वृत्ति में स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखते हैं

लक्षयति पश्यति अङ्कयति वा सा लक्ष्मी विभूतिर्वा।[1] अर्थात् जो लक्षित या अङ्कित करती है, वह लक्ष्मी या विभूति है। दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में लक्ष्मी शब्द का आध्यात्मिक अर्थ परमेश्वर भी किया हे। स्वामी जी लिखते हैं–

√ लक्ष दर्शनाङ्कनयोः धातु से लक्ष्मी शब्द सिद्ध होता है। "**यो लक्षयति पश्यति अङ्कते चिह्नयति चराचरं जगत् अथवा वेदैराप्तै योगिभिश्च यो लक्ष्यते सा लक्ष्मीः सर्व प्रियेश्वरः**"[2] अर्थात् जो सब चराचर जगत् को देखता, चिह्नित अर्थात् दृश्य बनाता, जैसे शरीर के नेत्र, नासिकादि और वृक्ष के पत्र, पष्प, फल, मूल, पृथिवी, जल, कृष्ण, रक्त, श्वेत, मृत्तिका, पाषाण, चन्द्र सूर्यादि चिह्न बनाता तथा सबको देखता, सब शोभाओं की शोभा और जो वेदादि शास्त्र वा धार्मिक विद्वान् योगियों का लक्ष्य अर्थात् देखने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम लक्ष्मी है।

लौकिक संस्कृत के कोषकारों ने लक्ष्मी के अनेक अर्थ किए हैं– जैसे सौभाग्य, सौन्दर्य, मोती, हल्दी, समृद्धि, विष्णु की पत्नी आदि।[3]

आचार्य यास्क ने लक्ष्मी शब्द की छै निरुक्तियाँ प्रस्तुत की हैं–

"**लक्ष्मी लाभाद्वा लक्षणाद्वा (लप्स्यनाद्वा) लाञ्छनाद्वा लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणो लग्यतेर्वा स्यादाश्लेष कर्मणो लज्जतेर्वा स्यादश्लाघा कर्मणः॥**"

1. **लक्ष्मी लाभाद्वा**– लक्ष्मी लाभ मिलने से है, √ लभ् प्राप्तौ धात्वर्थक निर्वचन है। लभ् से इसलिए है, क्यों कि इसे पाया है। जो लक्ष्मीवान् है, वही लाभ प्राप्त करता है,

2. **लक्षणाद्वा**– (लप्स्यमानाद्वा) सभी लक्ष्मी को लक्ष्य बनाते हैं, सभी लक्ष्मीवान् बनने की चाह रखते हैं। अथवा लक्ष्मी की शान अलग से होती है। या लक्ष्यते सा लक्ष्मीः। √ लक्ष दर्शनाङ्कनयोः धात्वर्थ

1 उ.को. दया. वृ. 3/160

2 स.प्र.प्र.सं. स्वा.दया.

3 संस्कृत हिन्दी कोष–वामन आप्टे

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

संकेतित है।

3. **लाञ्छनाद्वा– लाञ्छयतेऽङ्कयतेऽसौ मनसि सर्वैः धनार्थिभिरनया इति लक्ष्मीः।**[1] अर्थात् सब धन की इच्छा रखने वालों के द्वारा मन में जिसको अङ्कित किया जाता है, वह लक्ष्मी है। यहाँ लाछि (लाञ्छ) धात्वर्थ अभिप्रेत है।

4. **लषतेर्वा** – (स्यात् प्रेप्सा कर्मणः) √ लष् कान्तौ (इच्छायां) चाहने से है, सब इसे (लक्ष्मी) को चाहते है। अतः प्रेप्सा कर्म से अर्थात् प्रकृष्ट इच्छा होने से यह लक्ष्मी है। सब इस लक्ष्मी की प्रेप्सा (अभिलाषा) करते हैं, इसलिए यह लक्ष्मी कहलाती है। यहाँ √ लष् इच्छायां धात्वर्थ अभीप्सित है।

5. **लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणः**– अर्थात् लगने से लक्ष्मी है। सब लोग इससे लग जाते हैं, सब लक्ष्मी से चिपकते हैं। अतः इस निर्वचन में लगि सङ्गे धात्वर्थ अभिप्रेत है।

6. **लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः**– जो भद्र पुरुष होते हैं, वे इसे पाकर लजाते हैं। वे लक्ष्मी को पाकर आत्मश्लाघा/आत्म–प्रशंसा नहीं करते। वे ही सही मायने में लक्ष्मीवान् हैं। जो धन पाकर इतराते नहीं हैं। यहाँ लजी ब्रीडे धात्वर्थ संकेतित है।

वेद में लक्ष्मी शब्द का प्रयोग अनेकधा हुआ है। यद्यपि ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल के अन्त में परिशिष्ट के रुप में श्री सूक्त प्राप्त होता है, जिसमें लक्ष्मी के स्वरूप का उत्तम वर्णन हैं। इस सूक्त का देवता श्री और अग्नि कहे गए हैं। इस सूक्त में उन्तीस मन्त्र हैं। पुनरपि स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे वेद भाष्यकारों ने इस सूक्त को मूल ऋग्वेद संहिता में स्वीकार नहीं किया हैं। अतः इस सूक्त को छोड़ कर वेद में प्राप्त लक्ष्मी शब्द का प्रयोग प्रस्तुत करते हैं। ऋग्वेद के ज्ञान–सूक्त के द्वितीय मन्त्र में लक्ष्मी शब्द का प्रयोग हुआ है।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।।[2]

---
1 दुर्ग. छ. पृ. 170
2 ऋ. 10/71/2

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

इस मन्त्र का भावार्थ हम वाक्-देवी की व्याख्या प्रसङ्ग में कर चुके हैं, पुनः निरुक्त में इसी मन्त्र के प्रसङ्ग में आचार्य यास्क के लक्ष्मी शब्द के छः निर्वचनों का उल्लेख भी ऊपर किया जा चुका है। अतः लक्ष्मी शब्द का प्रयोग यहाँ विशुद्ध, मनन करके प्रयोग की गई वाणी के रूप में किया गया है। ऐसे लोगों की वाणी का फल भद्रलक्ष्मी अर्थात् कल्याणकारी लाभ के रूप में उन्हें प्राप्त होता है। उनकी वाणी पर ही उसका फल विद्यमान रहता है, अर्थात् ऐसे लोग जो कहते हैं, वही होता है।

दूसरा लक्ष्मी शब्द यजुर्वेद के पुरुष-सूक्त के अन्तिम मन्त्र में प्रयुक्त हुआ है।

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।
इष्णन्निषाणामुं मऽइषाण सर्वलोकं मऽइषाण।।[1]

हे आदित्य! परमेश्वर! श्री और लक्ष्मी तेरी पत्नियाँ हैं। (श्री) सबको आश्रय देने वाली और (लक्ष्मीः) सबको अङ्कित अर्थात् दिखाने वाली दोनों शक्तियाँ (ते) तेरी (पत्न्यौ) संसार को पालन व रक्षा करने वाली है। (अहोरात्रो पार्श्वे) तुम्हारे दिन और रात्रि दो पार्श्व हैं अर्थात् जब सूर्य प्रत्यक्ष होता है, तब दिन, जब नहीं होता तब रात्रि होती है। आध्यात्मिक पक्ष में जब ईश्वर सांसारिक आवरण रहित जब तुम्हारा प्रत्यक्ष होता है, तब हृदय में ज्ञान का प्रकाश होता है, तथा जब तामसिक वृत्ति के कारण जब प्रभु का प्रत्यक्ष नहीं होता तब अन्धकार रूप रात्रि होती है, (नक्षत्राणि रूपम्) सभी नक्षत्र आदित्य (सूर्य) या परमेश्वर का रूप हैं। (अश्विनौ व्यात्तम्) द्युलोक और पृथिवी लोक सब तेरे प्रकाश से व्याप्त हैं, अर्थात् आलोकित हैं। सूर्य और परमेश्वर दोनों ही अर्थो में यह भाव उचित है।

इस मन्त्र में लक्ष्मी शब्द पत्नी का विशेषण होने से मार्गदर्शिका व प्रकाशिका या रक्षिका है। √ लक्ष दर्शनाङ्कनयो धात्वर्थ विवक्षित है। इस मन्त्र का देवता आदित्य है। ये सूर्य की पत्नियाँ श्री, आश्रयदात्री लक्ष्मी व प्रकाशिका हैं।

1 यजु. 31/22

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अथर्ववेद के सातवें काण्ड के 115 वें सूक्त में लक्ष्मी शब्द धन-सम्पदा या विभूति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस सूक्त में चार मन्त्र हैं, चारों में लक्ष्मी का उल्लेख है।

प्रपतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत।
अय स्मयेनाङ्केन द्विषते त्वा सजामसि।।[1]

(हे पापि लक्ष्मि!) हे पापवृत्तिमयी लक्ष्मी! धन सम्पदा! अलक्ष्मी! (इतः) यहाँ से (प्रपत) दूर चली जा, (अमुतः) वहाँ से (प्रपत) भाग जा तथा (इतः) यहाँ से (नश्य) छिप जा, नष्ट हो जा। (अयस्मयेन अङ्केन त्वा) लौहमय अङ्क से अर्थात् दण्ड या काँटे से तुझे (द्विषते) द्वेष करने वाले शत्रु में (आसजामसि) स्थापित करते हैं।

पं. क्षेमकरण दास त्रिवेदी ने 'पापिलक्ष्मि' का अर्थ पापमय लक्षण या दुर्वृत्तिभाव किया है।[2]

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्दवन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितोधा हिरण्यहस्तो वसुनो रराण।।[3]

(या) जो (पतयालु) गिराने वाली या अपमानजनक (अजुष्टा) अप्रिय (लक्ष्मीः) लक्ष्मी या धन सम्पत्ति (मा) मुझ पर (अभिचस्कन्द) आचढ़ी है, जैसे (वन्दना) बेल या अमरबेल (वृक्षम्) वृक्ष पर चढ़ जाती है। हे (सवितः) सविता या सकलैश्वर्यवान् प्रभो! (हिरण्यहस्तः) सुवर्णमिय हाथों वाले आप सुवर्ण को हाथ में लिए आप (नः) हमें (वसु) धन को (रराण) प्राप्त कराओ। (तां) उस पतयालु लक्ष्मी को (अस्मत्) मुझ से (इतः अन्यत्र) इससे अन्यत्र स्थान पर (धाः) स्थापित कीजिए।

एकशतं लक्ष्म्योः मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोऽधिजाताः।
तासां पापिष्ठा निरितः प्रहिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नियच्छ।।[4]

(एक शतं लक्ष्म्यः मर्त्यस्य तन्वासाकं जनुषः अधिजाताः) एक सौ एक प्रकार लक्ष्मियाँ या लक्षण मनुष्य के जन्म के साथ उत्पन्न हुई हैं। (तासां) पापिष्ठा उनमें से जो अतिशय पापमयी लक्ष्मियाँ है, उन्हे (इतः) यहाँ से

1 अथर्व. 7/115/1
2 अथर्व. 7/115/1,
3 अथर्व. 7/115/2
4 अथर्व. 7/115/3

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

(निः प्रहिण्मः) हम निकाल देते हैं। हम अन्याय से अर्जित धनों को नहीं चाहते हैं। हे जातवेद! जो (शिवाः) मंगलकारिणी लक्ष्मियाँ हैं, उन्हे (अस्मभ्यं नियच्छ) हमें प्रदान करो।

एता एना व्याकरं खिले गाः विष्ठिता इव।
रमन्तां पुण्यां लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।।[1]

(एताः) ये जो ऊपर के मन्त्रो में कही गई (एनाः) तथा ये पापमयी तथा शिवा कल्याणमयी लक्ष्मियाँ (व्याकरम्) मैने स्पष्ट की हैं। उसी प्रकार (इता) जैसे (खिले) अन्न-उपजाऊ भूमि पर (विष्ठिता गाः) स्थित गायों को पृथक् करते हैं, उसी प्रकार (पुण्याः लक्ष्मीः) पुण्यमयी लक्ष्मियाँ (रमन्ताम्) ठहरी रहें, तथा (याः पापीः) जो पापमयी लक्ष्मियाँ हैं, (ताः अनीनशम्) उनको मैने नष्ट कर दिया है।

इस सम्पूर्ण सूक्त के चारों मन्त्रों में सविता तथा जातवेद देवताओं से पुण्यमयी लक्ष्मी की प्राप्ति तथा पापमयी लक्ष्मी को दूर करने की प्रार्थना की गई है।

रात्रि/रात्री

वेद और वैदिक साहित्य में रात्रि एक प्राकृतिक देवता के रूप में प्राप्त है। 'रात्रि' बहुत महत्त्वपूर्ण देवता है। परमात्मा ने सृष्टि की रचना में भोक्ता सृष्टि से पूर्व भोग सृष्टि बनाई। ऋग्वेद के दशम मण्डल के 190 वें सूक्त में इसका वर्णन प्राप्त होता है। इस सृष्टि का रात्रि एक महत्त्वपूर्ण भाग है।[2]

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः।।
समुद्रादर्णवादधि सम्वत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधत् विश्वस्य मिषतो वशी।।
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।।[3]

---
1 अथर्व. 7/115/4
2 ऋ. 1/35
3 ऋ. 10/190/1,2,3

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इन मन्त्रों का देवता (विषय) भाववृत्त है। अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति रूप दार्शनिक भाव इसका विषय है। इन मन्त्रों का भाव इस प्रकार है–

(धाता अभीद्धात् तपसः) सकल जगत् को धारण करने वाले प्रभु के ज्ञानमय तप से अर्थात् सामर्थ्य से (ऋतं अधि अजायत) सत्य ज्ञान रूप वेद उत्पन्न हुआ। (सत्यं च) और सत्य अर्थात् सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुणरूप प्रकृति उत्पन्न हुई। (ततो रात्री अजायत) उसी परमेश्वर की सामर्थ्य से महारात्री रूप प्रलय उत्पन्न हुई। (ततः अर्णवः समुद्रः) उसी सामर्थ्य से जल से परिपूर्ण पृथ्वी से अन्तरिक्ष पर्यन्त समुद्ररूप सृष्टि हुई अर्थात् पृथ्वी से अन्तरिक्ष पर्यन्त सभी पदार्थों की रचना हुई (अर्णवात् समुद्रात् अधि सम्वत्सरः अजायत) उस परमेश्वर ने समुद्र की उत्पत्ति के पश्चात् सम्वत्सर (वर्ष), क्षण, मुहूर्त आदि काल उत्पन्न हुआ। (ततः वशी मिषतः) तब सब जगत् पदार्थों को वश रखने वाले परमेश्वर ने सहज स्वभाव से (अहोरात्राणि विदधत्) दिन और रात्रि का विभाजन किया। (असौ धाता) इस धारण करने वाले प्रभु ने (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा तथा (दिवं पृथिवीं अन्तरिक्षं च) द्युलोक, पृथ्वी लोक तथा अन्तरिक्ष लोक को (अथ स्वः यथा पूर्वम् अकल्पयत्) और मध्यवर्ती लोक लोकान्तरों को पूर्व के समान अर्थात् पहली सृष्टि के समान बनाया।

'रात्रि' शब्द √ रा दाने धातु से औणादिक सूत्र "राशादिभ्यां त्रिप्" से त्रिप् प्रत्यय लगकर सिद्ध होता है, जिसका अर्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती अपनी वृत्ति में लिखते है–

"राति सुखं ददाति इति रात्रिः, रात्रिः प्रसिद्धा वा।"[1] जो सुख प्रदान करती है, वह रात्रि कहलाती है, अथवा जो रात्रिरूप में प्रसिद्ध है, सूर्यास्त से सूर्योदय तक का काल।

निरुक्तकार आचार्य यास्क ने रात्रि पर विस्तार से विचार प्रस्तुत किया है।

रात्रिः कस्मात्? प्ररमयति भूतानि नक्तश्चराणि उपरमयतीतराणि ध्रुवी करोति। रात्रेर्वा स्याद्दानकर्मणः प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः॥

---

1 उणादि को. दया. वृ.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अर्थात् रात्रि किससे? वह प्रेरित करती है, रात्रि में (रमण) विचरण करने वाले प्राणियों को, हिंसक जीवों को तथा दूसरे मनुष्यादि प्राणियों को उपरत (निवृत्त) होने का सन्देश भी देती हैं। रात्रि में निशाचर (हिंसक पशु) आदि शिकार करने के लिए प्रवृत्त हो जाते हैं। तथा मनुष्यादि दिन में कार्य में प्रवृत्त रहने वाले उपराम पाते हैं, इसलिए इसे रात्रि कहते हैं।

रात्रि √ रा दाने से भी है। जो देती है, वह रात्रि है। √ रा दाने से रात्रि शब्द की सिद्धि व्याकरण की दृष्टि से ऊपर की जा चुकी है। निरुक्तकार कहते हैं, कि रात्रि अवश्यायादि पदार्थों को देती है। 'अवश्याय' तुषार या ओस की बूदों को कहते हैं- "अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिनं हिमम् इत्यमरः।" रात्रि में तुषार या ओस गिरती है, अतः रात्रि उनकी दात्री कहलाती है। ऊपर के तर्कों से सिद्ध है, कि जैसे दिन जीवन के लिए आवश्यक है, वैसे ही रात्रि भी है। वेद में रात्रि के स्वरूप को प्रकट करने वाले रात्रि के स्तुति परक अनेक मन्त्र हैं, उनमें कतिपय मन्त्रों का उल्लेख प्रस्तुत है।

श्याम्यग्निं प्रथमं स्वस्तये श्यामि मित्रावरुणाबिहावसे।
श्यामि रात्रीं जगतो निवेशनीं श्यामि देवं सवितारमूतये।।[1]

(स्वस्तये प्रथमं अग्निं श्यामि) मैं सर्व प्रथम जीवन या जगत् के कल्याण के लिए अग्नि की स्तुति करता हूँ। (इह अवसे मित्रावरुणौ श्यामि) इस जीवन व जगत् की रक्षा के लिए मित्र और वरुण अर्थात् परमात्मा के मित्र रूप तथा वरणीय स्वरूप की अथवा प्राण और अपान की अथवा उदित होते हुए तथा अस्त होते हुए सूर्य की स्तुति करता हूँ। (जगतः निवेशनीं रात्रीं श्यामि) जगत् या जीवन को अपने भीतर समा लेने वाली अथवा सुखमय निद्रा में निमग्न कर देने वाली सुख दायिनी ईश्वरीय शक्तिरूपरात्रि की स्तुति करता हूँ। (ऊतये सवितारं देवं श्यामि) जीवन व जगत् की रक्षा के लिए सविता देव अर्थात् सबके उत्पादक व सर्वैश्वर्य के प्रदाता अथवा उदित होते हुए सूर्य की स्तुति करता हूँ।

इस मन्त्र में रात्रि के स्वरूप को प्रकट करने के लिए रात्रि के

1 ऋ. 1/35/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विशेषण के रूप में 'जगतः निवेशनी' अर्थात् संसार को अपने भीतर समा लेने वाली अथवा निद्रा में निमग्न करने वाली कहा है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का 127 वाँ सूक्त रात्रि देवी की स्तुति का ही सूक्त है। जिसमें कृष्णपक्ष वाली एवं शुक्ल पक्ष वाली अर्थात् अन्धेरी रात एवं चाँदनी रात दोनों प्रकार की रात्रियों के सकल स्वरूप का वर्णन है।

रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः।
विश्वा अधिश्रियोऽधित।।[1]

(रात्री देवी) अनेक सुखों की दात्री रात्री देवी, (आयती) आती हुई (पुरुत्रा) अनेकों की रक्षा व पालन करने वाली (वि अख्यत) विविध प्रकार से कहती है या व्याख्या करती है। (अक्षभिः) अपने प्रहरो से अथवा शक्तियों से अथवा नक्षत्र रूपी आँखों से (विश्वाः श्रियः) अधिक सकल सम्पदाओं व शोभाओं को धारण करती है।

ओर्वप्रा अमर्त्या निवतो देव्युद्वतः।
ज्योतिषा वाधते तमः।।[2]

(अमर्त्या देवी) रात्रि देवी अमर है, रात्रि प्रकृति का अमर नियम है। (निवतःउद्वतः) नीची व ऊंची सभी भूमियों को (आ+उरु+अप्राः) अच्छी प्रकार प्राप्त होती हुई (ज्योतिषा) अपने प्रकाश से (चाँदनी से) (तमः) अन्धकार को (वाधते) दूर करती है।

उपर्युक्त दोनों मंत्रों में चाँदनी रात का वर्णन है, क्योंकि चाँदनी रात ही रात्रि के अन्धेरों को नष्ट करती है। इसी सूक्त के मन्त्र छै और सात में अन्धेरी रात का वर्णन है।

उप मा पेपिशत्तमः कृष्णं व्यक्तमस्थित।
उप ऋणेव यातय।।[3]

(उषः) हे उषा! अर्थात् प्रभात वेला के प्रकाश को (पेपिशत्)

1 ऋ. 10/127/1
2 ऋ. 10/122/2
3 ऋ. 10/127/7

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

दबाता हुआ प्रगाढ (कृष्णं व्यक्तम्) कालिमा व्यक्त करता हुआ (तमः) उप+अस्थित) रात्रि का अन्धेरा छाया हुआ है। (मा) मुझे (ऋणेव यातय) ऋण से मुक्ति के समान छुड़ा अर्थात् अन्धेरी रात से दूर कर।

यावया वृक्यं? वृकं यवय स्तेन मूर्म्ये।
अथा नः सुतरा भव।।[1]

(ऊर्म्ये) हे रात्रि (वृक्यं वृकं) चीर फाढ़ करने वाले भेड़िये आदि हिंसक जीवों को (यावय) दूर कर। (स्तेनं यवय) रात्रि को निकलने वाले चोर आदि को दूर कर, (अथा नः सुतरा भव) और हमें सुख पूर्वक तार देने वाली हो। रात्रि में उत्पन्न होने वाले खतरों से दूर करने की प्रार्थना की गई है।

श्रद्धा

'श्रद्धा' ऋग्वेद के दशम मण्डल के 151 वें सूक्त के पाँचों मन्त्रों का देवता है। इस सूक्त का विषय ही श्रद्धा है, अतः इस सूक्त का नाम श्रद्धासूक्त है। इस सूक्त की ऋषिका भी **"श्रद्धा कामायनी"** है।

श्रद्धा मन का वह भाव है, जिसके जागृत होने पर सब काम सफलता को प्राप्त होते हैं तथा श्रद्धा का भाव जागृत न होने पर अथवा अश्रद्धा से किए गए कार्य या तो सफल नहीं होते और यदि आधी अधूरी सफलता मिल भी जाए तो उस कार्य का फल आनन्दकारी नहीं होता। इसीलिए वेद में श्रद्धा का महत्व एवं उसके फल की चर्चा श्रद्धा सूक्त में की गई है।

वेदेतर साहित्य में भी श्रद्धा का विस्तृत विवेचन हुआ है तथा अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है। 'श्रद्धा' शब्द का प्रयोग विश्वास, निष्ठा, सत्कार, आस्था, भक्ति तथा प्रबल इच्छादि अर्थों में प्राप्त होता है।

निरुक्त में श्रद्धा का निर्वचन करते हुए आचार्य यास्क लिखते हैं–

श्रद्धा श्रद्धानात्। तस्या एषा भवति।[2]

अर्थात् श्रद्धा श्रत् को धारण करने से है। विवृत्ति–टीकाकार लिखते

1 ऋ. 10/127/6
2 नि. 9/3/30

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

हैं- **'अत्र श्रत् इति सत्यनाम पूर्वं पदम् । तदस्यां धीयत इति श्रद्धा श्रद्धानं तस्मात्।'** अर्थात् 'श्रत्' सत्य को कहते हैं, उस सत्य को धारण करने को श्रद्धा कहते हैं। अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि हेतु जो अविपर्ययभावबुद्धि या यों कहें कि पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हेतु जो सत्य को धारण करने का भाव उत्पन्न होता है, वह श्रद्धा कहलाती है। शतपथ ब्राह्मण में तेज को श्रद्धा कहा है।[1] शतपथ ब्राह्मण का तेज को श्रद्धा कहने का अभिप्राय यह है कि तेज धारण किया जाता है, तेजस्वी के प्रति सबकी श्रद्धा होती है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में जलों को श्रद्धा कहा गया है।[2] जलों को श्रद्धा इसलिए कहा गया है, क्योंकि जल धारण किए जाते हैं, अथवा जल प्राणियों को धारण करते हैं। काठक संहिता में इसका विश्लेषण प्राप्त होता है

"आपश्श्रद्धा, श्रद्ध वा अस्मै देवाश्श्रन्मनुष्या दधते यस्यैवं विद्वानपः प्रणयति।"[3] अर्थात् आपः श्रद्धा है। क्योंकि मनुष्य तथा देवता इसे धारण करते है तथा विद्वान् जिनकी प्रेरणा देते है, वे कर्म भी अपः कहलाते हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में श्रद्धापय क्रिया पद से श्रद्धा का निर्वचन किया गया है।

"श्रद्धे श्रद्धापयेह वा"[4] अर्थात् हे श्रद्धे! तू मुझे श्रद्धा से युक्त कर। यहाँ **"श्रत् (सत्यं) धापयति धारणं कारयति इति श्रद्धा"** यह निर्वचन निरुक्त के निर्वचन के समान ही है।

महर्षि पतञ्जलि ने समाधिपाद में श्रद्धा को 'असम्प्रज्ञातसमाधि' की सिद्धि का 'उपाय प्रत्यय' कहा है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकइतरेषाम्।[5]

अर्थात् पहले योग में श्रद्धा होती है, उससे चित्त प्रसन्न होता है, तब कल्याणकारिणी श्रद्धा अर्थात् चित्त की प्रसन्नता माता के समान योगी की रक्षा करती है-

1 तेज एव श्रद्धा श.प.ब्रा. 11/3/1/1
2 श्रद्धा वा आपः. तै. ब्रा. 3/2/4/1
3 काठ. संहिता ख 31/3
4 तै. ब्रा. 2/8/8/8
5 योग. 1/20

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः।
स हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति।[1]

तब प्रसन्न चित्त वाले योगी उत्साहित (वीर्यवान्) होता है, तब स्मृति उत्पन्न होती है, स्मृति स्थिर होने पर चित्त आनन्दमग्न हो जाता है या समाधिस्थ हो जाता है, समाधिस्थ चित्त द्वारा सत्यासत्य के विवेक पूर्वक असम्प्रज्ञातसमाधि सिद्ध होती है।

यहाँ महर्षि व्यास ने श्रद्धा को चित्त की प्रसन्नता कहा है तथा योगी की माता के संमान रक्षिका कहा है।

गीताशास्त्र में श्रद्धा को ज्ञान प्राप्ति का प्रमुख साधन बताया है–

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।[2]

अर्थात् श्रद्धावान् तथा जिसने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, वह व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान को प्राप्त करके वह शीघ्र ही आत्मिक शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

योगीराज श्रीकृष्ण ने गीताशास्त्र के सत्रहवें अध्याय में श्रद्धा का विस्तृत विवेचन किया है। वहाँ उन्होंने कहा है कि यज्ञ जैसा श्रेष्ठतम कर्म भी श्रद्धा के विना तामस यज्ञ कहलाता है–

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।[3]

श्रद्धा के विना दी गई आहुति, दिया गया दान तथा किया हुआ तप भी नष्ट हो जाता है। वह असत् कहलाता है तथा यह जन्म और अगला जन्म दोनों ही व्यर्थ हो जाते हैं–

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।।[4]

---

1 यो. द. व्या. भा. 1/20
2 गीता. 4/39
3 गीता. 17/13
4 गीता. 17/28

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

तथा श्रद्धा-भाव अर्थात् निष्ठापूर्वक किया हुआ तप सात्विक कहलाता है-

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते।।[1]

अर्थात् शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक ये तीनों प्रकार का तप जब परमश्रद्धापूर्वक तथा बिना फल की इच्छा के किया जाता है, तब वह सात्विकतप कहलाता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में मोक्ष के साधन-चतुष्टय (विवेक, वैराग्य शमादिषट्कसम्पत्ति तथा मुमुक्षत्व) प्रसङ्ग में श्रद्धा की परिभाषा देते हुए लिखा है-

"तीसरा साधन-षट्क सम्पत्ति जिनमें पाँचवा कर्म श्रद्धा जो वेदादि सत्यशास्त्र और इनके बोध से पूर्ण आप्तविद्वान् सत्योपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना"। स्वामी जी ने आप्तपुरुषों के वचनों पर विश्वास करने को 'श्रद्धा' कहा है।

सायणाचार्य ने विशेष इच्छा के अर्थ में श्रद्धा शब्द का प्रयोग किया है।

पुरुषगतोऽभिलाषविशेषः श्रद्धा।

अर्थात् मनुष्य के मन (अन्तकरण) में जो इच्छा विशेष है, उसे श्रद्धा कहते हैं।

व्याकरण की दृष्टि से √ श्रत्+धा धारणे धातु से अङ् प्रत्यय तथा टाप् स्त्री प्रत्यय लगकर श्रद्धा शब्द बनता है। जिसका शब्दार्थ (अभिध ार्थ) ही सत्य को धारण करने की वृत्ति है।

ऋग्वेद में श्रद्धा का एक पाँच मन्त्रों वाला सूक्त है। जिसमें श्रद्धा का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। आगे श्रद्धा सूक्तों के मन्त्रों का विवेचन प्रस्तुत है।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्ध्नि वचसा वेदयामसि।।[2]

---
1 गीता. 17/17
2 ऋ. 10/151/1

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

अर्थात् श्रद्धा से अग्नि प्रज्वलित की जाती है, श्रद्धा से आहुति दी जाती है, ऐश्वर्य के शिर पर स्थित श्रद्धा को वाणी से प्रकट (व्यक्त) किया जाता है।

श्रद्धा से अग्नि प्रज्वलित होने का अभिप्राय है कि सम्यक्तया प्रज्वलित होना। समिधा गीली हो, सामग्री (साकल्य) व्यवस्थित न हो, तो अग्नि ठीक से समिद्ध (प्रज्वलित) नहीं होगी। यह तब ही सम्भव है, जब अग्नि प्रज्वलित करने वाले व्यक्ति के मन में श्रद्धा हो, जब श्रद्धा होती है तब मनुष्य पहले शास्त्र सम्मत व सूखी समिधाएँ तथा व्यवस्थित हवन कुण्ड के आकार के हिसाब से समिधाएँ तैयार करता है, तथा सामग्री उत्तम कोटि की तैयार करता है। परिणाम स्वरूप अग्नि ठीक से प्रज्वलित होती है। इसी भाव पर इस दृष्टि से विचार करते हैं, कि यदि समिधारूप छात्र यदि अपने मन मे ंकुल या सम्पन्नतारूपी आर्द्रता का अहंकार मन में रखता है, तो आचार्य उसके अन्तकरण में ज्ञान की अग्नि प्रदीप्त नहीं कर सकता। अतः विद्यार्थी पहले अपने आपको समिधा के समान रसरहित (अभिमानरहित) करके गुरु के निकट जब जाता है, तब उसके अन्तकरण में गुरुज्ञान की अग्नि प्रदीप्त कर पाता है। यही श्रद्धा से अग्नि को समिद्ध (प्रदीप्त) करना है।

श्रद्धा से अग्नि समिद्ध होने का एक तीसरा भाव यह भी है कि मनुष्य श्रद्धा से समिद् भाव से भक्ति करता है, या अपने आत्मा को परमात्मा की प्राप्ति हेतु श्रद्धा से समिधा बनाता है, तो प्रभु की कृपारूप अग्नि समिद्ध अर्थात् भलीभाँति प्रज्वलित होती है।

इसी प्रकार श्रद्धा अर्थात् समर्पण भाव से दी गई हवि (आहुति), हवि दाता का कल्याण करने वाली होती है। श्रद्धा ऐश्वर्य के शीर्ष पर स्थित होने का अभिप्राय है कि श्रद्धापूर्वक ऐश्वर्य के लिए किए गए पुरुषार्थ ही फलदायी होते है। अश्रद्धा या अधूरे मन से किए गए पुरुषार्थ ऐश्वर्य प्राप्ति के कारक नहीं बन पाते। यही वाणी से प्रदर्शित किया गया है। वाणी से श्रद्धा के विषय में यही वचन प्रकट किए जाते हैं।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि।।[1]

1 ऋ. 10/151/2

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

हे श्रद्धे। (ददतः प्रियं कृधि) देने की वृत्ति वाले अर्थात् दानी का प्रिय (कल्याण) करो, (श्रद्धे! दिदासतः प्रियं कृधि) हे श्रद्धे देने की इच्छा रखने वाले का प्रिय (कल्याण) करो। हे श्रद्धे (भोजेषु यज्वसु) तू भोजों में तथा यज्ञों में (प्रिय) सदा पूर्ति कर, तथा (मे उदितं) दान की इच्छा रखने वालो, यज्ञ करने वालों तथा भोज देने वालों का कल्याण एवं अभ्युदय करो।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि।।[1]

यथा जैसे (देवा उग्रेषु असुरेषु यथा श्रद्धां चक्रिरे) देवता लोग या सज्जन व्यक्ति उग्र स्वभाव वाले असुरों में जैसी श्रद्धा या विश्वास रखते हैं, हे श्रद्धे (एवं भोजषु यज्वसु) वैसे ही भोजो में और यज्ञों में (अस्माकं उदितं कृधि) हमारा अभ्युदय (कल्याण) करो। अभिप्राय यह है कि उग्र स्वभाव वाले दुष्टों से रक्षा के लिए असुर भाव रखने वाले शूरवीरों के प्रति हम श्रद्धा भाव रखें, जिससे हमारे भोजों और यज्ञों की रक्षा हो सके।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।।[2]

(देवाः यजमानाः वायुगोपाः श्रद्धां उपासते) देवगण, यजमान गण तथा वायु रक्षा करने अर्थात् प्राणायाम से रक्षा करने वाले योगीजन (श्रद्धां उपासते) श्रद्धा की उपासना करते हैं (हृदय्या आकूत्या) हृदय की आवज रूपी (श्रद्धया वसु विन्दते) श्रद्धा से वसु (रत्नों) को प्राप्त करते हैं।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।।

(प्रातः श्रद्धां हवामहे) हम प्रातः काल श्रद्धा का आवाहन करते हैं, (मध्यन्दिनं परि श्रद्धाम्) हम मध्याह्न में श्रद्धा का सब ओर से आवाहान

1 ऋ. 10/151/13
2 ऋ. 10/151/4

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

करते हैं। (श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि) हम सायं काल या सूर्य के अस्त के समय श्रद्धा का आवाहन करते हैं। (श्रद्धे नः इह श्रद्धापय) हे श्रद्धे तू इस जीवन में श्रद्धालु बना दे। अभिप्राय यह है कि मनुष्य को प्रातः से सायं तक तथा सम्पूर्ण जीवन श्रद्धामय होकर रहना चाहिए।

इडा (इला)

'इडा' शब्द वेद और वैदिक साहित्य में कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। 'इडा' शब्द पृथ्वी, अग्नि, अन्न, गौ आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

आचार्य शौनक ने वृहद्देवता में 'इडा' (इळा) को पार्थिव अग्नि का प्रतिनिधित्व करने वाले देवताओं में गिना है। चूंकि वाणी भी पार्थिव शरीर का एक अङ्ग है, अतः वाणीरूप इळादेवी पार्थिव देवताओं में गिनी गई है। पृथ्वी, अन्न और गौ आदि पदार्थ भी पृथिवी स्थानीय देव होने से इळा (इडा) पृथिवी स्थानीय देवों में गणनीय है।

जातवेदाः श्रितो अग्निम् अग्निं वैश्वानरः श्रितः।
द्रविणोदस्तथेध्मश्च श्रितोश्चाग्निं तनूनपात्।।
नाराशंसः श्रितश्चैनम् एनमेवाश्रितस्त्विडः।
बर्हिर्द्वारश्च देव्योग्निम् एनमेव तु संश्रिताः।।[1]

अर्थात् जातवेद, वैश्वानर, द्रविणोदस् तथा इध्म (ईंधन सभी पैट्रोलियम पदार्थ) तथा तनूनपात् ये देवता पृथ्वीस्थानीय अग्नि में गिने गए हैं

इसी प्रकार नाराशंस एवं इडा (इळा) भी इसी में निहित हैं, बर्हिस् तथा दिव्य द्वार भी इस पृथिवी स्थानीय अग्नि में ही गिने जाते है।

यद्यपि वृहद्देवता में ही वाणी (इळा) को त्रिस्थानीया एवं त्रिविधा भी माना है।

पार्थिवी मध्यमा दिव्या वागपि त्रिविधा तु या।
तस्याः सूक्तानि नामानि यथा स्थानं निबोधत।।[2]

अर्थात् वाणी भी पार्थिव, मध्यमा और दिव्य होने से त्रिरूपा या

---

1 वृ. 1/106-107
2 वृ. 2/72

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

त्रिविधा है। स्थानानुसार इसके नाम और स्थानों को जानना चाहिए।

वाणी के त्रिविधा तथा त्रिस्थानीया होने का वृहद्देवता में एक और श्लोक इस प्रकार है–

सैषा तु त्रिविधा वाग्वै दिवि च व्योम्नि चेह च।

अर्थात् यही वाक् द्युलोक, अन्तरिक्ष और यहाँ (पृथ्वी) पर होने से त्रिविधा है। यह वाणी त्रिविधा या त्रिस्थाना होने से त्रिरूपा है।

अग्निमेवानुगेडा तु मध्यं प्राप्ता सरस्वती।
अमुं स्थिताधि लोकं तु भारती भवति ह्यसौ।।[1]

इनमें इडा अग्नि का अनुगमन करती है, मध्यस्थाना वाक् सरस्वती कहलाती है तथा दिव्य लोक स्थित वाक् भारती कहलाती है।

वेद में इडा सरस्वती और मही इन तीनों देवियों को मयोभुवः अर्थात् सुखदायिनी कहा है।

इडा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हि सीदन्त्वस्रिधः।।[2]

अर्थात् इडा सरस्वती और मही ये तीनों देवियाँ सुख उत्पन्न करने वाली हैं। ये तीनों (अस्रिधः) अक्षय तथा अविनाशिनी है, या अहिंसनीय हैं। ये हमारे (बर्हि सीदन्तु) हृदयासन पर विराजमान हों।

ईड्यते स्तूयते अनया सा वाणी इडा।[3] अर्थात् स्तुति करने या कथन करने से 'इडा' वाणी है। यहाँ स्तुति अर्थ वाली 'ईड्' धातु का अर्थ अभिप्रेत है।

इडा पृथ्वी या स्त्री की वाचिका भी है। इस अर्थ में √ इल स्वप्न क्षेपणयोः तुतादिगणीय धातु का प्रयोग है, **सुप्यते क्षिप्यते वा अस्यां वीजादिकमिति पृथिवी स्त्री वा।** सह शयन या वीजबपन से स्त्री और पृथ्वी दोनों इडा हैं।

---

1 वृ. 3/13
2 ऋ. 1/13/9
3 ऋ.भा.स्वा.दया. 1/13/9

Funding by IKS-MoE

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

शतपथ ब्राह्मण में 'इडा' को पशु या गौ का वाचक बताया गया है–

इडा हि गौः।।[1] पशवो वा इडा।।[2]

शतपथ ब्राह्मण में ही इडा को श्रद्धा का वाचक माना है।

श्रद्धा वा इडा।[3]

ऐतरेय ब्राह्मण में अन्न को इडा बताया है–

अन्नं वा इडा।।[4]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में मनुष्य की पत्नी या सृष्टिरूप यज्ञ की स्वामिनी प्रकृति को इडा कहा है–

इडा वै मानवी यज्ञानुकाशिनी आसीत्।[5]

इसी इडा को इरा अथवा इला नाम से भी पुकारा गया है। निघण्टु में इडा, इला और इरा इन सभी पदों की निरुक्तियाँ प्राप्त होती हैं। इन सभी निरुक्तियों का उल्लेख डॉ. ज्ञानप्रकाश शास्त्री ने अपने वैदिक निर्वचन कोष में एकत्र संग्रहीत किया है।[6]

यजुर्वेद निम्न मन्त्रों में इडा वाणी के अर्थ में प्रयुक्त है–

इडाभिरग्निरीड्यः सोमो देवोऽमर्त्यः।[7]

अर्थात् अमरणधर्मा सोम देवता तथा अग्नि वाणियों द्वारा स्तुत किया जाता है।

होता यक्षदीडेन्यमीडितं वृत्रहन्तमिडाभिरीड्यं
सहः सोममिन्द्रं वयोधसम्।।[8]

अर्थात् (होता) यजमान (ईडेन्यम्) स्तुत करने योग्य (वृत्र हन्तमम्) वृत्र के नाशक या अन्धकार को नष्ट करने या मेघ को छिन्न भिन्न

1 श.प. ब्रा. 2/3/4/34
2 श.प.ब्रा. 12/2/7/20
3 श.प.ब्रा. 12/2/7/20
4 ऐ.ब्रा. 2/25
5 तै. 1/14/4
6 वै.नि.को. डॉ. ज्ञानप्रकाश. शास्त्री. पृ. 36,38
7 यजु. 21/14
8 यजु. 28/26

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कर देने वाले (इन्द्रं) इन्द्र अथवा सूर्य को तथा (सोमं) चन्द्रमा अथवा आह्लादक देव को तथा (वयोधसम्) दीर्घायु जन को (सहः) वल के कारण (इडाभिः) वाणियों से (ईड्यं) स्तुति करने योग्य इन उक्त देवों को (यक्षत्) स्थापित करे।

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में 'इडा' को निरुक्ति √ ईड स्तुतौ धात्वर्थक है।

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

उपसंहार

वेदों को समझने के लिए कतिपय शास्त्रों का ज्ञान आवश्यक है, जिनमें ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों वेदांङ्गों तथा उपाङ्ग का ज्ञान अत्यंत अपेक्षित हैं। वेदों के प्रत्यक्षार्थ के व्याकरणशास्त्र का, परोक्षार्थ के लिए निरुक्त शास्त्र व ब्राह्मणग्रंथों आदि का तथा अति-परोक्षार्थ के लिए आरण्यकों उपनिषदों तथा वेदाङ्गों व उपाङ्गों का अध्ययन आवश्यक है। वेदो के दार्शनिक सूक्तों को समझने के लिए दर्शनशास्त्रों का सूक्ष्म विवेचन अपेक्षित है। कर्मकाण्ड (यज्ञ) परक मंत्रों को समझने के लिए कल्पशास्त्र व ज्योतिष शास्त्र परम सहायक है। शिक्षाशास्त्र वेद मंत्रों के समुचित उच्चारण के लिए तथा छंदशास्त्र का ज्ञान वेदों के उच्चारण में यति- गति व स्वरों की पहचान में सहायक होता है।

निरुक्तशास्त्र के पंचम अध्याय (दैवतकाण्ड) में वेद में वर्णित देवता संबंधी पदों का निर्वचन किया गया है। जो देवताओं के स्वरूप, गुण तथा कार्यों का विवेचन करता है, जिससे देवता संबंधी सूक्तों को समझने में सहायता मिलती है।

बृहद्देवता में आचार्य शौनक ने मंत्रार्थो को समझने के लिए देवताओं का सम्यग् ज्ञान आवश्यक बताया है-

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति।।

वेदमंत्रों में वर्णित देवताओं को समझने वाला ही मन्त्रों के यथार्थ

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

को समझ सकता है। यज्ञादि कर्मकांड का लाभ भी देवता का ज्ञान रखने वाले विद्वान को ही प्राप्त होता है। जैसा की बृहद्देवताकार अचार्य शौनक ने कहा है-

नहि कश्चिदविज्ञाय याथातत्थ्येन दैवतम्।
लौक्यानां वैदिकानां च कर्मणाफलमश्नुते।।

वेदमंत्रों में देवता का स्वरूप जाने विना वेदमंत्रों में निहितार्थ तक पहुंचना कठिन है। अतः पाश्चाद्वर्तो विद्वानों ने अथक परिश्रम कर सर्वानुक्रमणी तथा वृहद्देवता जैसे ग्रन्थो में वेद मंत्रों के देवता, ऋषि तथा छंदों का यथावत् निर्धारण किया है। सामान्यजन को मंत्र का देवता, ऋषि व छन्द के निर्धारण से मंत्रों में निहितार्थ तक पहुंचने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

देवताओं का जो विवेचन वेदमंत्रों में तदनुसार ब्राह्मणग्रंथों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा निर्वचनशास्त्र में, वेद भाष्यकारों के भाष्यों में उपलब्ध है वही इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य है।

इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय में वैदिक मंत्रों के देवताओं का महत्व तथा दैवीय उद्भावना और उसका विकास विषय पर प्रकाश डाला गया है।

द्वितीयअध्याय में देव शब्द की व्युत्पत्ति और विवेचन, ब्राह्मण ग्रंथों में देव का निर्वचन तथा स्वरूप, देव शब्द पर स्वामी दयानन्द का दृष्टिकोण, देव, देवता, दैवत पदों का विवेचन, मन्त्रों में देवता की पहचान तथा वेद के भेद से देवता का भेद विषयों का विवेचन है।

तृतीय अध्याय में देव संबंधी पदों का भाषावैज्ञानिक एवं दार्शनिक अध्ययन, नासदीयसूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त, पुरुषसूक्त एवं ज्ञानसूक्त आदि दार्शनिकसूक्तों का परिचय दिया गया है।

चतुर्थ अध्याय में देवताओं की संख्या निर्धारण व विभाजन, आठ वसु, ग्यारह रुद्रों तथा बारह आदित्यों का विवेचन, देवो संख्याविषयक यास्क का चिन्तन, देवों का त्रिधा विभाजन, देवों के अङ्ग, शस्त्र एवं वाहन एक विश्लेषण आदि विषयों पर समीक्षात्मक चिन्तन किया गया है।

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

पंचम अध्याय में पृथिवीस्थानीय प्रमुख देवों का विवेचन किया गया है, जिसमें अग्नि, जातवेद, वैश्वानर, नदी, सोम तथा बृहस्पति का उल्लेख है।

षष्ठ अध्याय में अंतरिक्षस्थानीय देवों का विवेचन है जिसमें वायु, इन्द्र, वरुण, आपः, पर्जन्य तथा अपांनपात् व तनूनपात् का उल्लेख है।

सप्तम अध्याय में द्युस्थानीय देवों का विश्लेषण है, जिनमें सूर्य, सविता, आदित्य, उषस्, विष्णु तथा अश्विनौ का उल्लेख है।

अष्टम अध्याय में स्त्री देवों का विवेचन है, जिसमें वाक् (वाणी) सरस्वती, लक्ष्मी, रात्रि, श्रद्धा, तथा इडा का उल्लेख है।

मैं आशा करता हूं कि विद्वद्वरेण्य मेरे इस प्रयास हेतु आशीर्वाद प्रदान करेंगे तथा सामान्यजन के लिए वेदों को समझने में यह ग्रन्थ सहायक सिद्ध होगा।

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. **अथर्ववेद**– सायणभाष्य, विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संथानम्– 1960

2. **अथर्ववेद**– (हिंदी भाष्य) प० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, दयानंद संस्थान प्रकाशन दिल्ली– 2031 वि० स०

3. **अथर्ववेद**– (हिंदी भाष्य) हरिशरण सिद्धान्तालंकार,भगवती प्रकाशन मॉडल टाउन, दिल्ली–1990

4. **अथर्ववेद**– प० सातवेलकर भाष्य, स्वाध्याय मंडल पारडी वलसाड (गुजरात)

5. **अमरकोष**– प० अमरसिंह,चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी– 2003

6. **अष्टाध्यायी**– महर्षि पाणिनि,चौखंबा संस्कृत संस्थान वाराणसी 2056– वि० स०

7. **उणादि–कोष**– महर्षि पाणिनि– स्वामी दयानंद तथा आचार्य सत्यव्रत शास्त्री कृत वृत्ति सहित, प्रकाशिका
श्रीमती मिथिलेश कुमारी सत्यसदन चित्तौड़गढ़ राजस्थान

8. **उणादि–कोष**–परोपकारिणी सभा, अजमेर प्रकाशन

9. **ऋग्वेद**– संहिता (मूल) चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान,38A,बंगलो रोड, जवाहर नगर 110007–2016 पुनर्मुद्रण

10. **ऋग्वेद**– (स्वा०दयानंद भाष्य) दयानंद संस्थान प्रकाशन दिल्ली 1976

11. **ऋग्वेद भाष्य** प० (हरिषरण सिद्धान्तालंकार) भगवती प्रकाशन 2/3 मॉडल टाउन दिल्ली 11009–1989

12. **ऋग्वेदादि–भाष्य भूमिका**–स्वामी दयानंद सरस्वती सम्पा०–प०युधिष्ठिर मीमांसक,रामलाल कपूर ट्रस्ट 11973

13. **ऋग्वेदादि–भाष्य भूमिका**– आचार्य सायण, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

14. **ऋग्सर्वानुक्रमणी**

15. **ऐतरेय ब्राह्मण**– डॉ.सुधाकर मालवीय,तारा प्रिंट प्रेस वाराणसी 1983

16. **कोषीतकी ब्राह्मण**– पर्यालोचन– डॉ मंगलदेव शास्त्री,चौखंबा विद्याभवन वाराणसी 1968

17. **गीता** (श्रीमद्भगवत गीता) शांकर भाष्य, गीता प्रेस गोरखपुर,

18. **गीता प्रबोधिनी**– गीताप्रेस गोरखपुर वि० स० 2066

19. **गोपथ ब्राह्मण** (हिंदी भाष्य) क्षेमकरणदास त्रिवेदी, लकरगंज इलाहाबाद

20. **गोपथ निर्वचन विज्ञान**– डॉ वीरेंद्र कुमार अलंकार, भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली 11006

21. **छान्दोग्य उपनिशद** (हिंदी भाष्य)– डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, विजयकृष्ण लखनपाल, डब्लू 77 ग्रेटर कैलाश कॉलोनी दिल्ली

22. **दयानन्द निरुक्ति उत्पत्ति कोष**– रूपकिशोर शास्त्री, गुरुकुल वृंदावन, स्नातक शोध संस्थान– 74 तरूण एनक्लेव दिल्ली 110088, 2003

23. **दयानंद वैदिक कोष**– राजवीर शास्त्री– आर्ष प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली

24. **देवताध्याय ब्राह्मण**– जीवानंद विद्यासागर, एशियाटिक सोसायटी कोलकाता,

25. **निघण्टु तथा निरुक्त**– लक्ष्मणस्वरूप, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली

26. **निरुक्तम**–(दुर्गाचार्य कृत ऋज्वर्थ टीका) श्री मुकुंदनाथ शर्मा, चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान, बंग्लो रोड, जवाहर नगर दिल्ली

27. **निरुक्त के पाँच अध्याय**– डॉ शिवनारायण शास्त्री, एंडो लॉजि. कल,बुक हाउस दिल्ली

28. **निरुक्त मीमांसा**– डॉ शिवनारायण शास्त्री,एंडो लॉजिकल,बुक हाउस दिल्ली

29. **पाणिनि अष्टाध्यायी**– रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ सोनीपत, 1999

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

30. **बृहद्देवता**– शौनक सम्पा० रामकुमार राय, चौखंबा संस्कृत संस्थान वाराणसी, 2003
31. **माधवीया धातुवृत्ति**–सम्पा० द्वारकादास शास्त्री, राज्य भारती प्रकाशन, वाराणसी
32. **यजुर्वेद संहिता**– वैदिक यंत्रालय, अजमेर राजस्थान 1970
33. **यजुर्वेद संहिता**– (मूल मात्र) चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान, 38A, एनक्लेव बंग्लो रोड जवाहर नगर दिल्ली
34. **यजुर्वेद–भाष्य**– (स्वा०दयानंद) प्रतिनिधि सभा दिल्ली 1959
35. **यजुर्वेद भाष्य**– प० जयदेव शर्मा, आर्ष साहित्य मंडल, अजमेर
36. **रघुवंश महाकवि कालिदास**– चौखंबा ओरियंटालिया 1987
37. **वाचस्पत्यम् कोश**– चौखंबा संस्कृत सीरीज वाराणसी 2003
38. **वेदपरिचय**– डॉ कृष्णलाल,हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली वि.वि.
39. **वेद सम्मुलास**– डॉ० सत्यभूशण योगी, मोतीलाल बनारसीदास जवाहर नगर दिल्ली 1971
40. **वेद विद्या निदर्शन** – भगवतदत्त इतिहास, प्रकाशन मंडल दिल्ली
41. **वैदिक निर्वाचन कोष**– डॉ कृष्णलाल .जेपी पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
42. **वैदिक वाङ्मय का इतिहास**– सी०पी०वैद्य, परिकल्प पब्लिकेशन, दिल्ली
43. **वैदिक देवता**– उद्भव और विकास, गंगाचरण त्रिपाठी,प्रका० राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान
44. **वैदिक वाङ्मय में भाषा चिंतन**– डॉ० शिवनारायण शास्त्री, लॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी
45. **वैदिक संग्रह**– डॉ कृष्णलाल, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली
46. **शतपथ ब्राह्मण**– संस्कृत अनुवादक –प० गंगाप्रसाद उपाध्याय, द रिसर्च इंस्टिट्यूट ऑफ एशियाटिक स्टडी, (नई दिल्ली 2003)
47. **शब्द कल्पद्रुम**– राधाकांत देव बहादुर, मोतीलाल बनारसीदास, जवाहर नगर दिल्ली 110004

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

48. **षड्विंश ब्राह्मण**– सायण भाष्य, केंद्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय तिरुपति
49. **सांख्यायन ब्राह्मण**– सम्पा० एच०एन० आनंद आश्रम, पुणे
50. **सामवेद संहिता** (मूल मंत्र)– चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
51. **सामवेद भाष्य**–प० हरिशरण सिद्धांन्तालंकार 2006
52. **संस्कृत साहित्य का इतिहास**– डॉ कपिल देव द्विवेदी
53. **संस्कृत साहित्य का इतिहास**– डॉ बलदेव उपाध्याय, शारदा निकेतन, वाराणसी 2001
54. **संस्कृत साहित्य विमर्श**– प० द्विजेंद्रनाथ शास्त्री, गुरुकुल वृंदावन शोध संस्थान 1998
55. **सत्यार्थ प्रकाश** (स्वामी दयानंद सरस्वती)– आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट 2015
56. **संस्कृत (हिंदी कोश)** – वामन आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 2007
57. **हिंदी निरुक्त**– डॉ कपिलदेव शास्त्री, साहित्य भंडार मेरठ (उत्तर प्रदेश)

BVB Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya
1395

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

डॉ. छविकृष्ण आर्य (शास्त्री) का जन्म 7 नवम्बर 1953 को उत्तर प्रदेश के ग्राम-गोठना तहसील-गुन्नौर, जिला-बदायूँ (वर्तमान जिला-सम्भल) में हुआ। आपके पूज्य पिताजी स्व. श्री कन्हैयालाल जी प्राथमिक विद्यालय के प्रधानाध्यापक थे। आपने शास्त्री तक की सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में श्री सर्वदानन्द संस्कृत महाविद्यालय गुरुकुल साधु आश्रम, हरदुआगंज, अलीगढ़ से उत्तीर्ण कीं। आपने एम. ए. तथा एम. फिल. दिल्ली विश्वविद्यालय से तथा पी.एच.डी. गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय से किया है। आपने गुरुकुल खेड़ा खुर्द में दर्शन-विभाग में 1978-1983 तक पाँच वर्षों तक अध्यापन कार्य किया तथा गुरुकुल की समस्त व्यवस्था में प्राचार्य श्री रमेश चन्द्र शास्त्री का पूर्व सहयोग किया। इससे पूर्व आप आर्यसमाज माडलटाउन दिल्ली तथा आर्य समाज राजेन्द्र नगर नई दिल्ली में (1972-1977) पाँच वर्षों तक धर्माचार्य रहे। अक्टूबर 1983 में आपने केन्द्रीय विद्यालय संगठन में संस्कृतप्रवक्ता के रूप में सेवा आरम्भ की। 31 वर्षों तक के.वि.सं. की सेवा कर अन्त में 31 मार्च 2014 को प्राचार्य पद से सेवा निवृत्त हुए। केन्द्रीय विद्यालय में आप पूना, गाजियाबाद, दिल्ली के केन्द्रीय विद्यालय में प्रवक्ता तथा हैदराबाद, दिल्ली (एण्ड्रयूजगंज), में उपप्रधानाचार्य तथा के.वि.नरेला, रेवाड़ी, एन.टी.पी.सी. (दादरी) तथा जाम नगर (गुजरात) में प्राचार्य रहें। आप के.वि.संगठन में संस्कृत शिक्षकों के प्रशिक्षण कार्यशालाओं के वर्षों तक संसाधक, सहनिदेशक एवं निदेशक रहे। आपकी प्रकाशित पुस्तकों में 'संस्कृत वाग् व्यवहारः' (संस्कृत अकादमी दिल्ली से प्रकाशित), संस्कृत-ज्ञानोदय (चार-भाग) जवाहर प्रकाशन गाजियाबाद से प्रकाशित, संस्कृतज्ञान-सुरभि (चार-भाग) एवर साइन प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित, संस्कृत-रत्नम् (चार-भाग) (सम्पादक), रत्ना सागर प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित, संगमनी (संस्कृत पत्रिका) सम्पादक, के.वि. संगठन से प्रकाशित, ऋग्वेदीय-निर्वचन उपासनापब्लिकेशन्स दिल्ली से प्रकाशित, वैदिक देवता, प्रकाशनाधीन प्रमुख हैं। एन.सी.ई.आर.टी. से प्रकाशित पुस्तकों में आपकी सहभागिता रही है, उनमें शाश्वती दोनों भाग, भाश्वती दोनों भाग, वनस्पतिविथिका एन.सी.आर.टी से प्रकाशित तथा मणिका दोनों भाग सी.बी.एस.ई से प्रकाशित हैं। आपको हनुमान संस्कृत महाविद्यालय टेगोर गार्डन द्वारा ''संस्कृत सेवा सम्मान'' तथा संस्कृत अकादमी दिल्ली द्वारा ''संस्कृत समाराधक सम्मान'' से सम्मानित किया गया है।

Funding by IKS-MoE

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

उपासना पब्लिकेशन्स
डी-1548, गली नं० 10
खजूरी खास, दिल्ली-110090
9868351990
email id: upasanapublications@gmail.com

ISBN 9789387677067
9 789387 677067

Funding by IKS-MoE